UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186693

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H335/L835 Accession No. G.H.1799
Author लोहिया, राममनोहर
Title सप्ता-चार के आर्थिक आधार
This book should be returned on or before the date last marked below.

ग्रन्थमाला सम्पादक— रामनन्दन मिश्र

समाजवाद के आर्थिक आधार

लेखक

डा० राममनोहर लोहिआ

नव–भारत प्रकाशन गृह
पो० लहेरियासराय
दरभंगा (बिहार)

प्रकाशक—
विनय राघव मिश्र द्वारा
नव-भारत प्रकाशन गृह
के लिये प्रकाशित

समाजवादी ग्रन्थमाला में प्रथम बार
अक्तूबर १९५२—३०००
सर्वाधिकार सुरक्षित
मूल्य
१।)

मुद्रक—
पं० सूर्य्यनारायण झा
दरभंगा प्रेस कं० लि०, दरभंगा

विषय सूची

१	डा० राममनोहर लोहिआ	९
२.	विषय प्रवेश	१३
३	समाजवाद के आर्थिक आधार	१७

डा० राममनोहर लोहिया

[इस ग्रन्थ के विज्ञ लेखक का संक्षिप्त परिचय, इस लेख में ग्रन्थमाला-सम्पादक की ओर से दिया जा रहा है।]

राममनोहर सोशलिस्ट पार्टी की मौलिकता के प्रतीक हैं। उनके मधुर और चित्रमय व्यक्तित्व की उपरी सतह के नीचे, एक जलती हुई अन्तर्धारा है, जो सतत मानव-जाति के विकास के पथ को ढूढ़ती रहती है। यही कारण है कि पिछले दिनों में वे सभी मौलिक-प्रेरणायें लोहिया से मिली हैं, जो समाजवादी दल के आन्दोलनों को एक विशेष सांचे में ढाल रही हैं। चौखंभा-राज, भूमि-सेना, पाकिस्तान-विरोधी, मुस्लिम-हितैषी, आदि मौलिक नाराओं के जन्मदाता वे ही हैं। जर्मन-दर्शन की परम्परा में अवगाहित, गांधी जी के व्यक्तित्व से प्रभावित और विद्रोही अन्तर से प्रताड़ित लोहिया मानव-विकास के गति-संचालक हैं। मानव विचार की निर्भरिणी, जिस तरह आज इस दुनियाँ में, नपे-तुले और पके-पकाये विचारो की मरूभूमि में अपने पथ को खोकर सूख गयी है, उससे उनका हृदय क्षुब्ध है। छोटा कद, बड़ी-बड़ी आँखें, विशाल हृदय और सरल स्वभाव के लोहिया चुम्बक की तरह लोगों को अपनी तरफ आकर्षित करते हैं। परन्तु स्वयं अपने को कभी खोते नहीं। वे गंगा की वह पावन-धारा हैं, जहाँ आप निर्भय हो डुबकी लगाकर, थके हुए मन और प्राण को ताजा कर सकते हैं। यह इसलिए कि उनमें शील है। एकबार गांधी जी ने कहा था कि "लोहिया विद्वान हैं, परन्तु विद्वान तो और भी हैं, लोहिया बहादुर हैं परन्तु दूसरे भी बहादुर हैं, हाँ इन दोनों गुणों के साथ उनमें शील है, जिसका उपर्युक्त दोनों गुणों के साथ सम्मिश्रण कहीं और मिलना कठिन है। यही शील उनकी शक्ति और उनकी कमजोरी के मूल में हैं।"

चैत्र वदी ३०, १९६६ यानी २३ मार्च सन् १९१० को राममनोहर लोहिया का जन्म युक्तप्रान्त के अकबरपुर शहर में हुआ था। डेढ़ वर्ष की अवस्था में माँ को खोकर, पिता का सब प्यार इन्हें मिला। इनके पिता स्वर्गीय श्री हीरा लाल जी लोहिया स्वयं तो गांधीवादी थे, परन्तु राममनोहर के लिए उनके दिल में अगाध प्रेम और अभिमान था। जिस वस्तु या व्यक्ति को राममनोहर प्यार करते, उसे वे भी प्यार करने लगते। ४२ की फरारी के जमाने में उन्होंने हर तरह से राममनोहर की सहायता की। ४ वर्ष हुए वे इस संसार से चल बसे। उनके बाद, जिसने लोहिया को स्नेह दिया, वे थे महात्मा गांधी। अन्तिम दिनों में, वे इन पर बहुत ज्यादा भरोसा रखने लगे थे। कई प्रश्नों का समर्थन तो गांधी जी ने इसलिए किया कि लोहिया उनका समर्थन करते थे। लेकिन वे भी चले गये। इन दोनों के चले जाने से कोई स्थान या हृदय ऐसा नहीं रहा, जिसे लोहिया अपना कह सकें या जिस पर सर रखकर विश्राम कर सकें।

९ वर्ष की अवस्था में ही पहले पहल लोहिया गांधी जी से मिले थे। फिर कलकत्ते में कालेज में पढ़ने के समय ही राजनीति में दाखिल हो गये। १९२८ के अखिल बंगाल विद्यार्थी कान्फ्रेंस की विषय निर्धारिणी समिति में सभापति पंडित नेहरू से वे उलझ गये और उसी वर्ष अल्बर्ट हाल की महती सभा में सभापति बन श्री सुभाष चन्द्र बोस के कोप-भाजन बने। उस समय देश के अन्य नवयुवकों की तरह गीता, लेनिन, सिन्क्लेयर और नेहरू से प्रभावित हो समाजवाद की ओर झुके। इनके परिवार का वातावरण भी इसके अनुकूल था। लखपतियों-करोड़पतियों के परिवारों के चारों ओर जो उनके गरीब सम्बन्धियों के परिवार हैं, उन्हीं में इनका भी परिवार था।

१९२८ में कलकत्ते से चलकर अगस्त १९२९ में वे बर्लिन यूनिवर्सिटी में दाखिल हुए और अर्थशास्त्र का अध्ययन करते रहे। अर्थशास्त्र

के प्रसिद्ध विद्वान बर्नर सोम्बार्ट के वर्षों तक शिष्य रहे। परन्तु वहाँ भी पढ़ाई के अलावा राजनीति के क्षेत्र में ही जोरदार हिस्सा लेते रहे। १९३३ में जेनेवा में कम्युनिस्टों से मुठभेड़ कर उन्हें पराजित किया।

यूरोप से लौटकर सन् ३४ में सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की। लखनऊ कांग्रेस के समय पं० नेहरू ने इन्हें अ० भा० कां० कमिटी के लिए चुना और ये इलाहाबाद में, कांग्रेस के प्रधान दफ्तर में, वैदेशिक विभाग के संचालक की हैसियत से दाखिल हुए। परन्तु ज्यादा दिन वहाँ नहीं ठहर सके। मौलिकता, ओज और सुलझी विचारधारा से खिंचकर शक्ति और प्रभाव के स्थान इन्हें वर्षों से ढूँढ़ रहे हैं। पिछलीबार ही इन्हें कांग्रेस के मन्त्री बनाने की चेष्टा हुई। नासिक में सोशलिस्ट पार्टी के प्रधान मन्त्री बनाने के लिए साथियों ने सारी शक्ति लगाई। परन्तु किसी दफ्तर के पास ये नहीं गये। इनका अन्तर खुले आसमान में उड़नेवाला उन्मुक्त पंछी है। अबतक न रमणियों की भावभंगियाँ और न दफ्तरों के आकर्षण ही इस स्वच्छन्द बुद्धिजीवी लोहिया को बांधने में समर्थ हो सके हैं।

भारत लौटने से अबतक के १८ वर्षों में कितनी बार वे जेल गये, वर्षों भूमिगत रहे। पिछले ही वर्ष यूरोप और अमेरिका के प्रोग्राम को रोक कर मैसूर प्रान्त के कांगड़ू गांव के किसानों के आह्वान पर, वे वहाँ गये और गिरफ्तार होकर बंगलोर के जिले में पड़े रहे। इसके पहले नेपाली-दूतावास के सामने प्रदर्शन करने पर नेहरू सरकार ने गिरफ्तार कर इन्हें दिल्ली जेल में कैद कर दिया। 'प्रत्येक अन्याय के विरुद्ध सक्रिय विरोध' यही आजकल इनके संदेश का मुख्य मन्त्र है।

एक व्यावहारिक दर्शन इनकी हड्डियों में प्रवेश कर गया है। संसार में बहुत बड़े और नामी व्यक्ति हैं। पर इससे क्या? उपनिषदों की विचारधारा का मध्यबिंदु, 'ततः किम्' इनके अन्तर के ताने-बाने में मानों

समा गया है। काल और देश की महानता के सामने, वर्तमान घटनायें और वस्तुओं की नगण्यता, इनके प्राणों को छोटे संकुचित दायरों से उठाकर विशालता के नशे से ओतप्रोत कर देती है। इनमें एक स्वाभाविक आत्म-शक्ति उत्पन्न हो गई है और साथ ही आ गयी है विचारों की निर्भयता। किसी को पसन्द आये या न आये, वे अपने विचार कहेंगे ही। बहुतों को वे नाराज कर देते हैं। परन्तु उसमें उनका कोई वश नहीं। मानवता का अभिमान-ज्वाल उनके अन्तर में अक्षुण्ण जलता है। वे शब्द से और कार्य से चाहते हैं उन्मुक्त आत्मप्रकाश, अपने को व्यक्त करना। किसी भी कीमत पर आत्म-प्रकाशन की स्वतन्त्रता वे बेच नहीं सकते हैं। इसलिए वे अब तक कुँवारे हैं, भाव में और समाज के बन्धन में।

सोशलिस्ट पार्टी के वे सबसे सुन्दर अंग्रेजी-लेखक हैं। काम आ पड़े, तो रात-रात भर जगकर वे लिखेंगे या महीनों तक एक पृष्ठ भी नहीं। अकसर अनिच्छा और आलस्य लेखन-शक्ति का गला दबा बैठते हैं, इसलिए उनका लिखना बहुत असम-धारा में चलता है। लेकिन जब वे कलम लेते हैं, तो चमकते हुए भाव कागज के पट पर रंगीन चित्रों में अंकित हो जाते हैं।

वे काम बहुत करते हैं, पर आज-कल ऐसे कामों को ले बैठे हैं जिनमें जनता की करतल ध्वनि और जयनाद नहीं मिलते। उपेक्षित प्रश्नों के वे इस समय मानों अनाथालय बन रहे हैं। राममनोहर लोहिया को छोड़कर, कौन दूसरा ऐसा है, जो गोआ या नेपाल का प्रश्न ले सकता है; जिनमें एक ओर जनता की उदासीनता, दूसरी ओर सालाजार की कैद में जिन्दगी के गुजारने का सौदा और तीसरी ओर नेपाल की तराई में लकड़ी की बेड़ियों में जकड़े जाने का भय समाहित है।

विषय प्रवेश

पूंजीवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति और उन्मुक्त व्यवसाय का आधारभूत सिद्धान्त है। यह व्यवसाय और खेती में विज्ञान द्वारा प्राप्त साधनों का सतत् प्रयोग करता है। अपने आर्थिक उद्देश्यों में यह ढूंढता है बड़े पैमाने की पैदावार, कम लागत और मालिकों के लिए मुनाफा। इसके समान्य उद्देश्य हैं प्रजातन्त्र, ऐसी नैतिकता जो विभिन्न स्वार्थों के सामंजस्य से कायम हो, और शक्ति-संतुलन पर आश्रित शांति। पूंजीवाद की यह नीति दुनियां की एक तिहाई जनता का भला कर सकी है। इसकी क्रांतिकारी पद्धतिके लाभ उनमें ही सीमित रहे हैं। इतना होने पर भी विश्व की इस तिहाई मानवता में भी पूंजीवाद समय समय पर आर्थिक संकट और युद्ध पैदा करता रहा है। इसने संचित पूंजी और उसकी कब्र खोदने वाले सर्वहारा के बीच उत्पादन के साधन तथा उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों के बीच संघर्ष को जन्म दिया है। इससे भी भयंकर विषमता विश्व के एक तिहाई हिस्से में विशालकाय पैदावार के साधनों में और बाकी दुनिया की मृतप्राय पैदावार के यंत्र में पैदा की है। इस विषमता ने, जैसे एक छुरे से, दुनिये को दो हिस्सों में काट दिया है।

विषुवत् रेखा के ४० डि० से ऊपर रहने वाली जनता कम से कम शारीरिक सुख के साधन पा सकी है, जबकि उससे बहुत बड़ी विशाल जनता दुख और कष्ट में डूबी है और इसके चलते सारा विश्व रोता है। पूंजीवाद ने मृत्यु की शांति एशिया और अन्य पिछड़े देशों पर लाद दी है। इनके आर्थिक यंत्र के नाश और जनसंख्या के विस्तार का यही कारण हुआ। गोरी या पीली जातियों में आबादी बढ़ने के साथ पैदावार के साधन भी बढ़ते रहे हैं, परन्तु भूरी और काली जातियों में एक ओर कला और शिल्प का नाश हुआ और दूसरी ओर आबादी बढ़ी।

आज भी रूस और अमेरिका की गोरी जातियों की आबादी ५० व्यक्ति प्रति वर्ग मील से कम है—हाँ, यूरोप के कुछ हिस्सों में आबादी घनी है, परन्तु विशाल उत्पादन के साधन और उससे भी बड़ी चीज, अफ्रिका की विस्तृत भूमि उनको सहारा दे रही है। रंगीन जातियों मे अभी ही आबादीका बोझ असह्य हो गया है, जैसे ३०० प्रति वर्गमील भारतमें और ६०० जावा में। दूसरी ओर पैदावार के साधन अत्यन्त संकुचित और नगण्य हैं। गोरी जातियों में प्रति व्यक्ति ५,००० रु० से ८,००० रु० तक के औजार है। रंगीन जातियों के पास केवल १५० रु० प्रति व्यक्ति औजार रह गये हैं। इन जातियों की विशाल आबादी को खेती और उद्योग के ऐसे औजार देना जिससे वे यूरोप और अमेरिका की बराबरी में आ जाँय, पूंजीवाद और व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिये असम्भव है। पूँजीवाद ने रंगीन जातियों की जो दुर्दशा की है, उससे उनके लिये पूँजीवाद का आलिंगन करना किसी तरह भी सम्भव नहीं हो सकता। संसार के दो तिहाई भूभाग के लिये पूंजी निर्माण का काम व्यक्तिगत पूंजी के बूतेके बाहर है। अतः पूंजीवाद विशाल मानवता के लिए पूंजी इकट्ठा करने की प्रारम्भिक जिम्मेदारी को भी पूरा करने में आज असमर्थ है। इसलिये गोरी जाति के हित में पूंजीवाद को फैला कर विश्व व्यापक बनाना न तो सम्भव है न कल्याणकारी। गरीबी और युद्ध इन दो राक्षसों को पूँजीवाद ने जन्म दिया, विश्व के दो तिहाई हिस्से के लिये गरीबी और बाकी के लिये युद्ध। अपने से पैदा की हुई इन दोनों राक्षस संतानों को मारने में यह असमर्थ है। रंगीन जातियों की दारुण दरिद्रता के बीच उन्मुक्त व्यवसाय से न तो नैतिकता आ सकती है और न स्वार्थों के सामंजस्य से सच्चा प्रजातन्त्र। राष्ट्रिय स्वतन्त्रता भी ऐसे वातावरण में अनवरत खतरे में रहती है।

विश्व के इन दो तिहाई हिस्सों में जल्दी से जल्दी पूँजीवाद और सामंतशाही को खतम करने में कोई हिचक या सन्देह नहीं रहना चाहिए।

विश्व के इस हिस्से के लिए पूँजीवाद का अर्थ है शरीर और मन की गरीबी को बढ़ाते रहना। ये यहाँ की आबादी को खाना कभी नहीं दे सकते। इन देशों के लिए पूँजीवाद का अर्थ है अधपेटा रहना और समय-समय पर भूख से मरना। पूँजीवाद केवल नफे के लिये पैदा कर सकता है और, इन देशों की अविकसित अर्थ-व्यवस्था में नफे की कोई गुञ्जाइश नहीं है, खासकर भोजन, घर और साधारण नागरिक की आवश्यकता के औजार की दृष्टि से। अलबत्ते इसे नफा मिलता है वनस्पति घी, दवा, सिनेमा और सबसे ज्यादा सट्टेबाजी में। एशियाई देशों में पूँजीवाद मनुष्य को आधा आदमी और आधा घोड़े का स्थान दे रहा है। हिन्दुस्तान ऐसे देशों में ढोने के काम के लिए घोड़े का स्थान आदमी ले रहे हैं। फैक्ट्रियाँ मर रही हैं, दूकानें बढ़ती जाती हैं। एशिया में पूँजीवाद का प्रतीक रिक्शा और आदम-घोड़ा है, क्योंकि पूँजीवाद यहाँ के बसनेवालों के लिए इससे अच्छे पेशे का निर्माण नहीं कर सकता। अपने धनी गोरे भाइयों की नकल में यहाँ के पूँजीपति दरिद्रता के काले समुद्र में अपने लिये छोटे छोटे सुख और विश्वास के टापू बना लेते हैं। जिसके लिये इन्हें दलाली, सट्टेबाजी और कालाबाजारी की कला में दक्षता प्राप्त करनी पड़ती है। यह जनता के भोजन और स्वास्थ्य तथा बच्चों की कोर्स की किताबों में भी सट्टेबाजी करता है। इनके हितैषी अधिकारी कोर्स की किताबों को साल-साल बदलते रहते हैं, जिससे इनके लेखकों और प्रकाशकों को नफा मिलता रहे। विकसित देशों में ईमानदारी एक अच्छी नीति है, परन्तु हिन्दुस्तान जैसे देश में एक व्यक्ति के लिये ईमानदार होना असम्भव हो रहा है। सड़न और मृत्यु की दुर्गन्ध सब के ऊपर फैल रही है। शरीर और अर्थ-व्यवस्था सड़ रही हैं तथा संस्कृति और जीवन के आदर्श मर रहे हैं। ऐसे पूँजीवाद में कोई संशोधन या परिवर्तन सम्भव नहीं। इसे शीघ्रातिशीघ्र जड़मूल से उखाड़ फेंकने में ही मानव-जाति का कल्याण है।

समाजवाद के आर्थिक आधार

[१९४२-४३ के अंग्रेजी-शासन के विरुद्ध, खुले विद्रोह के समय, जब समाजवादी या तो जेल में थे या उनका पीछा किया जा रहा था और कम्युनिस्ट विदेशी प्रभुओं के साथ मिलकर अपना जन-युद्ध लड़ रहे थे, मैंने समाज के मौलिक आधारों पर नये सिरे से विचारना प्रारम्भ किया था। मेरी इच्छा हुई कि अबतक की धारणाओं के सत्य की खोज करूं और उसके असत्य को नष्ट करूं। अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास और दर्शन, इन चार पहलुओं की योजना मैंने बनाई थी, उसमें अर्थशास्त्र केवल आधा ही हुआ था कि पुलिस ने मुझे पकड़ लिया।

उसके बाद खोज और अभिव्यक्ति के इस तरीके में, मुझे कोई दिलचस्पी नहीं रही। किसी व्यक्ति के विचारों को राजनीतिक क्रिया का केन्द्र नहीं बनाना चाहिये; वे विचार सहायता तो करें, किन्तु नियन्त्रण नहीं। स्वीकृति और अस्वीकृति; दोनों ही अन्धविश्वास के दो विभिन्न रूप हैं। मेरा विश्वास है कि गांधीवादी होना अथवा मार्क्सवादी होना मूर्खता है और गांधी-विरोधी या मार्क्स विरोधी होना भी उतनी ही बड़ी मूर्खता है। गांधी और मार्क्स दोनो से ही हम बहुमूल्य पाठ सीख सकते हैं। किन्तु इससे लाभ तभी हो सकता है, जब विचारों का क्षेत्र किसी युग या व्यक्ति तक ही सीमित न हो।

खोज करने वालों को, व्यक्ति के विचारों द्वारा प्रदर्शित अनुसन्धान की धारा को जारी रखना होगा, विशेषतः अगर वह व्यक्ति मार्क्स या गांधी हो। आगे लिखे विचार बिल्कुल अधूरे हैं और लिखने के बाद इनमें किसी तरह का परिवर्तन भी नहीं किया गया है। किन्तु मूल भी ज्ञान का स्रोत है। मैं इतनी ही आशा करता हूं कि मैंने

महत्व की कुछ ऐसी बातें कही है, जिनसे किसी अधिक योग्य और उद्यम व्यक्ति को आगे खोज करने के लिये प्रेरणा मिलेगी। किसी भी दशा में, मुझे आशा है कि इन पृष्ठों से अर्थशास्त्र में एक ऐसी विचार-धारा की आवश्यकता प्रकट होगी, जो विश्व में समान कल्याण की आनन्द-सुखमय धारा को फैला सकेगी। —लेखक]

मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के मान्य आधार—

साम्यवाद सामाजिक न्याय के एक कार्यक्रम के रूप में आरम्भ हुआ। उसका आधार एक वर्गविहीन-समाज प्राप्त करना था। सामाजिक-न्याय के अन्य कार्यक्रमों की भांति, इसे भी आरम्भ में विहित स्वार्थ, अज्ञान और उन लोगों के व्यंग का सामना करना पड़ा, जो हर महान वस्तु को अव्यावहारिक और असम्भव कह देते हैं। अतः इसने दर्शन, इतिहास और अर्थशास्त्र की एक पूर्ण पद्धति को विकसित किया। इसमें, उसके पहले दार्शनिक के १९ वीं सदी के एक जर्मन होने का प्रभाव भी सम्भव है। जो भी हो, मानवी-सुधार के एक ठोस कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिये विचारों की एक पूर्ण व्यवस्था बनानी, इतिहास में नयी बात नहीं है। वेदान्त, बौद्ध-धर्म, ईसा-इयत और इदारबाद; सभी में इस तरह की बातें मिलती हैं। इस व्याख्या में एक ही बात नयी थी—उसके वैज्ञानिक होने का दावा, उसका यह कहना कि वह एक नैतिक-विधेयक नहीं, बल्कि नैयायिक-विधेयक है। इसके दर्शन का दावा है कि पूंजीवाद के विकास का आवश्यक परिणाम वर्गविहीन समाज याने समाजवाद की स्थापना है।

इस दावे के चारों ओर नियमों की एक पूरी तालिका खड़ी होगई है। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इन सिद्धान्तों का इतना शक्तिशाली प्रभाव हुआ है, कि सभी समाजवादी और कम्युनिस्ट विभिन्न-सीमाओं तक उन्हें

स्वीकार करते हैं। नियमों के इस विधान का अध्ययन पूंजीवादी-अथतन्त्र के क्षेत्र से आरम्भ करना होगा, जिस क्षेत्र के सब से निकट यह है और जहां कम से कम गलतियाँ करने की संभावना है। यहां पूजीवादी-विकास के नियमों और सिद्धान्तों का एक संक्षिप्त- विवरण देना आवश्यक है।

पूंजीवादी विकास का सिद्धान्त इस सत्य में निहित है कि 'श्रम' अन्य वस्तुओं (Commodity) की भांति एक वस्तु है। पूंजीपति 'श्रम' को इसलिए खरीदते हैं कि उसकी सहायता से, विक्री के लिये अन्य वस्तुओं का उत्पादन कर सकें। किन्तु अन्य वस्तुओं के विपरीत, श्रम अपने अन्तर में दो विरोधी मूल्यों को धारण किये हुए हैं। हर अन्य वस्तु का एक निश्चित मूल्य होता है—उसके उत्पादनके लिए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक समय। श्रम का भी यह मूल्य होता है। खाना, कपड़ा, और मजदूरों की अन्य आवश्यकताओं की मांगें, जो किसी पूंजीवादी काल विशेष में प्रभावशाली हों, इस मूल्य की माप बनती हैं। मजदूर काम करता है और उसे भोजन दिया जाता है, जिससे वह फिर काम कर सके। उसे इस प्रकार श्रम योग्य रखने के लिये जो कुछ, दिया जाता है, वही उसका वेतन है। यह श्रम का एक मूल्य है; उसका परिवर्तन मूल्य, पुनः उत्पादक मूल्य; यही उसकी मजूरी है। किन्तु श्रम का दूसरा मूल्य भी है, उसकी उपयोगिता का मूल्य, जो उसे खरीदने वाले पूंजीपति को मिलता है। पूंजीपति मजदूर भी श्रम शक्ति खरीदता है। उसके बदले, उसके द्वारा उत्पादित सारी वस्तुएं पाता है। इन वस्तुओं का एक भाग मजदूर के वेतन में चला जाता है, किन्तु दूसरा भाग पूंजीपति के मुनाफे के रूप में बचा रहता है। मजदूर का दिन दो भागों में बांटा जाता है। एक भाग में उसके वेतन का उत्पादन होता है और और दूसरे में मुनाफे का। पूंजीवादी मुनाफे के स्रोत का उद्गम यही है, कोई और लेन देन नहीं, क्योंकि केवल श्रम से ही मूल्य बनता है। मुनाफे की खोज में पूंजीपति मशीनों का उपयोग करने और उन्हें सुधारने की चेष्टा

करता है, जिससे वह श्रम शक्तिको अधिक उपयोगी बना सके। परन्तु मशीनें अधिक मुनाफा नहीं उत्पन्न करतीं, बल्कि अच्छी मशीनों का इस्तेमाल करने वाला श्रम ही ऐसा करता है। अतः पूंजीवादी विकास को संचालित करने वाली शक्ति स्पष्टतः श्रम के विनिमय मूल्य और उसकी उपयोगिता, वेतन और उत्पादन के अन्तर में है। यह अन्तर अतिरिक्त मूल्य की जड़ है, जिससे पूंजीवादी व्यवस्था के सारे लाभ उत्पन्न होते हैं। यहां पूरी व्यवस्था की आय, किराया, सूद आदि से मतलब है, किसी विशेष उद्योगपति की साहसिकता से पैदा विशेष नफा से नहीं। हम पूंजीवादी उत्पादन और विकास के नियमों का एक पूरा क्रम इस अतिरिक्त मूल्य की जीवन-वृत्ति में देख सकते हैं।

पूँजी से और अधिक पूँजी एकत्र होती है। बेहतर मशीनों और संयुक्त श्रम के लिये अतिरिक्त मूल्य या पूँजीवादी लाभ का उपयोग किया जाता है, जिससे और अधिक अतिरिक्त मूल्य उत्पन्न होता है। यह पूँजीवादी एकत्रीकरण का एक नियम है।

पूँजीवाद के अन्तर्गत उत्पादन और वितरण एक दूसरे से कदम मिलाकर नहीं चल पाते। जितना खरीदा जा सकता है, उससे अधिक उत्पादन होता है, क्योंकि श्रम की उत्पादन शक्ति और मुनाफा बराबर बढ़ते जाते हैं, जब कि वेतन न्यूनाधिक एक ही स्तर पर रहते हैं। इस प्रकार जन साधारण की क्रय-शक्ति और उत्पादन में अन्तर आ जाता है, जिससे उद्योग धन्धों में आर्थिक संकट उत्पन्न होते हैं। यह पूँजीवाद में समय-समय पर आनेवाले संकटों का एक नियम है।

भारी और पेचीदे मशीनों को उत्पादन के साधन बनाने के लिये इनमें और पूँजी लगाई जाती है। इससे कुछ समय के लिये संकट टल जाता है, क्योंकि इससे उत्पादन में तुरन्त वृद्धि नहीं होती, वरन् निकट भविष्य में अधिक उत्पादन-शक्ति की नींव पड़ती है। पूँजी के स्थायी भाग (मशीन, इमारत आदि) का अनुपात बढ़ता है, लाभ की दर गिरती है।

बड़े पैमाने पर उत्पादन बढ़ता है। छोटे पूँजीपति नष्ट हो जाते हैं, और पूँजीवाद, एकाधिकारवादी पूँजीवाद में, बदल जाता है। यह पूँजी के केन्द्रीकरण या बड़े पैमाने अथवा एकाधिकारवादी उत्पादन का एक नियम है।

जबकि पूँजी एकत्र और केन्द्रित होती है, तब जनसंख्या का एक बड़ा भाग बेकार होकर उद्योग का श्रम भंडार बढ़ाता है और मजदूर अधिक गरीब होते जाते हैं। यह गरीबी बढ़ने का और मजदूरों के धनहीन होने का एक नियम है।

इसके साथ-साथ मजदूर वर्ग में अधिकाधिक एकता आती है, वह अपने प्रति सजग होता है, क्योंकि वह सहयोग से और बड़ी संख्याओं में एकाधिकारवादी उद्योग-धन्धों में काम करता है। यह श्रम के समाजीकरण का नियम है।

विकासके इन नियमों से होकर जाने में, श्रम के मूल्य और उत्पादनका अन्तर और तीखे स्वरूप को धारण करता है। यह पूँजीवादी स्वामीत्व और सामाजिक उत्पादन, पुराने सम्बन्धों और बढ़ती हुई शक्तियों का विरोधी बन जाता है। एकाधिकारवादी पूँजीपतियों और बहुसंख्यक, क्रुद्ध, समाजीकृत श्रमिक वर्ग का द्वन्द्व बन जाता है। वर्ग संघर्ष अपनी आखिरी दौर में आता है, जब मजदूर वर्ग पूँजीवादी ढाँचे को तोड़ देता है। यह मजदूर वर्ग की तानाशाही को स्थापित करने वाले वर्ग-संघर्ष का एक नियम है।

इन नियमों में पूँजीवाद के स्थायी आर्थिक संकट का नियम और जोड़ देना चाहिये, जब उद्योग धन्धों में मन्दी और तेजी का बारी-बारी से आना बन्द हो जाता है। स्थायी और निरन्तर आर्थिक संकट की इस अवधि में पूँजीवादी युद्ध होते हैं, पूँजीवाद का पूर्ण ह्रास होता है और विश्व के श्रमिक वर्ग की विजय होती है। यह साम्राज्यवादी युद्ध लाने वाले पूँजीवाद के स्थायी संकट और विश्व क्रांति का एक नियम है।

इस नियम की विस्तृत व्याख्या मार्क्स की अपेक्षा एंगेल्स और लेनिन ने अधिक की। १९१४ के विश्व युद्ध के २६ वर्ष पहले एंगेल्स ने

"एक युद्ध में पूंजीवाद के 'पूर्ण ह्रास' के द्वारा 'मजदूर' वर्ग की अन्तिम विजय की स्थिति उत्पन्न होने" की भविष्यवाणी की थी, किन्तु लेनिन और उनके साथी विचारकों ने ही समय-समय पर आने वाले संकट के नियमों को पूंजीवाद के स्थायी संकट और विश्व क्रांति के नियम में विकसित किया।

'लूटने वालों की लूट' होने का वर्णन करने वाले अपने प्रसिद्ध वाक्यों में, मार्क्स ने पूंजीवादी उत्पादन में निहित इन नियमों को, मोटे तौर पर, इस प्रकार बताया है 'पूंजी का केन्द्रीकरण, उत्पादन-विधि टेकनीक में सुधार के लिये विज्ञान का सोद्देश्य प्रयोग, समाजीकृत श्रम के उपयोग द्वारा उत्पादन के साधनों के व्यय में कमी, पूंजीवादी प्रभुओं की संख्या में निरन्तर कमी और गरीबी, दलन एवं गुलामी की मात्रा में सानुपातिक वृद्धि और प्रतिदिन बढ़ता हुआ बहु-संख्यक मजदूर वर्ग, जो पूंजीवादी उत्पादन विधि की व्यवस्था से ही अनुशासित, एकत्र और संगठित होता है। पूंजीवादी विकास के ये मार्क्सवादी नियम केवल विद्वानों के लिये ही महत्व के नहीं हैं। यद्यपि रूढ़िगत नियमों के रूप में देखने के अतिरिक्त कम ही लोग इन्हें पढ़ते हैं और उससे भी कम लोग इन्हें समझने की चेष्टा करते हैं किन्तु मार्क्सवादी, नवमार्क्सवादी अथवा मार्क्स-विरोधी सभी प्रकार के समाजवादी इनमें से ही कुछ नियमों पर विशेषतः इन के मूल स्त्रोत—श्रम शक्तिकी उपयोगिता और उसके मूल्य के अन्तर के साधारण इतिहास पर अपने विचारों और कार्यों को आधारित करते हैं।

इन नियमों का समर्थन अथवा खंडन करते-करते इसका एक विशाल साहित्य बन गया है पर यह ज्यादातर निरर्थक विवाद का साहित्य है। हमें समर्थन या खंडन करने के लिए नहीं बल्कि पूंजीवादी विकास के क्रम को समझने के लिये इन नियमों को देखना चाहिए।

हम देखें कि पूंजीवादी विकास की प्रमुख घटनाएं कहाँ तक इन नियमों का समर्थन करती हैं अथवा उनके विरुद्ध जाती हैं। सबसे पहले तो गरीबी की वृद्धि और धनहीनता का नियम खतम हो जाता है। इस बात से इन्कार

करने में कोई लाभ नहीं, कि मार्क्स द्वारा इस नियम के प्रतिपादन के सत्तर वर्ष बाद और सर्वप्रथम पूंजी के बड़े बड़े केन्द्र बनने के २५ वर्ष के उपरान्त पूंजीवादी देशों में श्रमिक वर्ग, न केवल धनहीन नहीं हुआ, पहिले से अधिक गरीब नहीं हुआ, वरन् उसके जीवन के स्तर में निरन्तर सुधार ही होता गया। यहाँ तक कि जर्मन अर्थशास्त्री यह दावा कर सके कि मध्यम वर्ग के सर्वहाराकरण के बजाय, सर्वहारा वर्ग ही धीरे-धीरे मध्यम वर्ग में बदल रहा था। अंग्रेज अर्थशास्त्री भी समृद्ध मजदूरों की ओर इशारा कर सकते थे।

कम्युनिस्टों ने ज्योतिषियों की 'देखते रहो क्या होता है' की नीति द्वारा इन सत्यों को इनकार करने की चेष्टा की। मार्क्स के सिद्धान्तों में इस तरह की ज्योतिषियों जैसी बहानेवाजी नहीं थी। आम जनता की गरीबी, पूँजी के केन्द्रीकरण की आवश्यक परिणति थी; गरीबी में वृद्धि एकाधिकारवादी पूँजी का अनिवार्य फल थी। इस अनिवार्य फल के प्रकट होने में ३० या १० वर्ष भी क्यों बीते, इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिये। आंशिक गरीबी और धनहीनता १९१४ के युद्ध के १० वर्ष बाद पूँजीवादी देशों में अवश्य प्रकट हुई, किन्तु आंशिक रूप में। यह फिर दूर भी हो गयी। यह कथन कि पूँजीवादी सरकारें निर्माण कार्यक्रमों और युद्धोद्योगों द्वारा गरीबी दूर कर सकीं, एक नैतिक सत्य है, किन्तु धनहीनता से अपने को बचाने की पूँजीवाद में 'निहित' योग्यता का यह कोई उत्तर नहीं है। समाजतादी सिद्धान्त को इन बिखरे हुए सत्यों को एकत्र करके एक निश्चित सिद्धान्त बनाकर अपने को सत्य के अनुरूप बनाना चाहिये।

पूँजी के केन्द्रीकरण के अन्तर्गत गरीबी की अनुपस्थिति को समझा सकने में, मार्क्सवादी सिद्धान्तों की इस कमजोरी के कारण, पूँजीवाद में औद्योगिक संकट के अन्यथा सही वर्णन में भी दोष आ गया है। पूरी १९वीं शताब्दी में उद्योग-धन्धों पर नियमित संकट आते रहे हैं, किन्तु उतनी ही नियमितता से संकट दूर भी होते रहे हैं। इन संकटों के तथा इनके दूर होने के

बारे में, पूँजीवाद के आन्तरिक ढांचे, सुधरते हुए उत्पादन के साधनों और स्थिर क्रय-शक्ति के संघर्ष का तर्क ही मुख्य मार्क्सवादी मत हैं।

इस आधार पर क्या यह सम्भव नहीं है कि पूँजीवाद अपने स्थायी संकट में पड़ गया है और समय-समय पर आनेवाले संकटों की भाँति, इस स्थिति में भी जीवित रहे और सम्भवतः एक देश में समाप्त होने पर दूसरे स्थान में उत्पन्न हो जाय?

इन आर्थिक संकटों, उनकी सामयिकता, उनकी प्रकृति और उनके कारणों आदि के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। इन संकटों की संख्या और उनके अन्तर की अवधि को गिनने का प्रयास किया गया है। विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों के द्वारा इन्हें मुद्रा-संकट, उत्पादन-संकट, विश्वास-संकट आदि बताने के बारे में भी हमें अधिक चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ये विभक्तियाँ केवल बाह्य रूप को प्रकट करती हैं और प्रश्न के मूल तक नहीं जातीं हैं। मार्क्स इस प्रश्न के मूल में, एक सीमा तक, जाते हैं, जब कि वे उत्पादन और उपभोग, यान्त्रिक श्रम शक्ति के अधिक उत्पादन और मजदूरों के स्थिर अथवा घटते हुए वेतन के द्वन्द्व में इसका कारण खोजते हैं। किन्तु वे फिर संकट दूर होने का कारण भी उसी स्रोत में खोजते हैं, जो उसका कारण हैं। वे और उनके अनुयायी उत्पादन के साधनों में सुधार करने और ज्यादा अच्छी मशीनें आदि बनाने की अवधि पर जोर देते हैं, जिसमें उपभोग की वस्तुएँ तत्काल मंडी में नहीं आतीं, किन्तु वेतन मजदूरों को मिलता जाता है। इसके साथ ही, वे किसानों के शोषण, कृषि में सुधार, सारे विश्व को पूँजीवादी जाल में फंसने की बातें भी कह देते हैं, किन्तु इन बातों को, औद्योगिक आर्थिक संकट के मार्क्सवादी सिद्धान्त में, सही स्थान नहीं दिया गया है। सचमुच, पूँजीवादी राजनीतिज्ञों और अर्थशास्त्रियों ने औद्योगिक संकटों की एक चिकित्सा पुस्तक बनाई है, जिसमें न्यू डील, निर्माण-कार्यक्रम, युद्धोद्योग और शायद अनिच्छित रूप में, युद्ध और युद्धोत्तर पुनः निर्माण

शामिल हैं। इन निर्माण कार्यक्रमों में दल-दल सुखाना, मलेरिया से लड़ना, सभाओं के लिये बड़ी २ इमारतें बनाना आदि, उपभोग की वस्तुओं में नहीं आते, किन्तु जनता के स्वास्थ्य और मनोरंजन में वृद्धि करते हैं और उनमें श्रमिकों को वेतन भी मिलता है। उत्पादन के साधनों में भी मशीन बनानेवाली मशीनों में, जो उपभोग के क्षेत्र में बाद में आती है, और अन्य मशीनों में, जो उनके पहले ही उपभोग के क्षेत्र में आ जाती हैं, अन्तर किया जाता है। पूंजीवादी-म्युनिसिपल-आधार पर मकान बनाने का उद्योग भी कुछ समय के लिये संकट दूर कर सकता है, क्योंकि वह तुरन्त ही मन्डी में नहीं आता। पूंजीवाद उद्योगों के उन सम्बद्ध समूहों की खोज कर रहा है, जो मंडी पर बिल्कुल प्रभाव नहीं डालते या बहुत धीरे-धीरे डालते हैं। जब तक संकटों के समाजवादी–सिद्धान्त की अबतक की उपेक्षित बातों को अच्छी तरह नहीं समझा जाता, तबतक सामयिक या स्थायी, पूंजीवादी आर्थिक संकटों को साधारण जुकाम की भांति ही समझना पड़ेगा, जो कष्टदायक तो होता है किन्तु प्राणघातक नहीं।

समाजीकृत उत्पादन के सम्बन्ध में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बड़े बड़े उद्योग-धन्धों और एकाधिकारवादी पूंजी का जन्म तो हुआ है, किन्तु छोटे पूंजीपति समाप्त नहीं हुए हैं। दरअसल बड़े धन्धों के हिस्सेदारों या स्वयं अपने धन्धों के स्वामी-व्यवस्थापक के रूपमें छोटे पूंजीपतियों की संख्या बढ़ी ही है। इसी प्रकार, यद्यपि हजारों मजदूरों के एक ही स्थान पर सहयोग से काम करने के कारण, एक अर्थ में श्रम का समाजी-करण हुआ है, किन्तु उनमें एकता नहीं आई है। वैज्ञानिक और व्यवस्थापक, स्वतन्त्र पेशेवाले और बाबू वर्ग आदि के अतिरिक्त स्वयं मजदूरों में भी कुशल-अकुशल, सामयिक और स्थायी के रूप में भेद हो रहे हैं। इन भेदों और मजदूरी की विभिन्नता ने श्रमिक वर्ग की कथित एकता को केवल एक शुभेच्छा में परिवर्तित कर दिया है।

पिछले दिनों कुछ ऐसी पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जिन में वैज्ञानिक स्वतन्त्र पेशेवालों, वेतनभोगी और बाबू वर्गों को द्रोही ठहराया गया है। ये वर्ग इतने बहुसंख्यक और शक्तिशाली क्यों हैं, इसे न समझ पाने के कारण यूरोप में कभी तो उन्हें पूंजीवाद का पिछलग्गु समझते हैं और कभी उन्हें अपना मित्र मान कर प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं।

साम्राज्यवाद और पूंजीवाद, दोनों जुड़वें भाई हैं;

इतिहास ने पूँजीवादी विकास के सिद्धान्तो के साथ सबसे बड़ी चाल यह खेली है कि क्रान्ति, जर्मनी में (जहाँ उसकी आशा थी) या पश्चिमी यूरोप के किसी अन्य विकसित देश में न होकर, रूस में हुई।

कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो के प्रकाशन से रूस की क्रान्ति तक, याने ७० वर्षों तक लेनिन भी, 'पश्चिमी यूरोप विशेषतः जर्मनी में' क्रान्ति होने की आशा करते थे। मार्क्स या लेनिन द्वारा कभी रूस में, या अन्यत्र पहले क्रान्ति के होने की सम्भावना स्वीकार करना अधिक महत्व का नहीं है। जर्मनी और पश्चिमी यूरोप के बारे में भविष्यवाणी की गई थी। सत्तर वर्षों तक मार्क्सवादी इस भविष्यवाणी पर जीवित रहे तथा रूसी क्रान्ति की थोड़ी सी अवधि के बाद फिर उसी पर वापस आ गये।

'पूँजीवादी विकास में निहित-नियमों' के अनुसार पूंजीवादी ढांचों को वहीं टूटना था, जहाँ वह पूंजी के केन्द्रीकरण और समाजीकृत श्रम के साथ, न चल सके। वर्ग संघर्ष के इस सिद्धान्त ने बेतुकी छलांग कैसे लगा ली, इसे मार्क्सवादी सिद्धान्तों में अब तक नहीं बताया जा सका है, न उन में इसे सम्मिलित ही किया जा सका है। ट्राटस्की की सफाई, कि पूँजीवादी जंजीर अपनी सब से कमजोर कड़ी पर टूट गयी, एक सुन्दर व्याख्या है और शायद सही। किन्तु यह पूँजीवाद के सम्बन्धके कम्युनिस्ट सिद्धान्तों के बिल्कुल विपरीत है। पूँजीवादी जंजीर कहाँ टूटती है? मार्क्स कहते हैं, अपनी सब से

विकसित कड़ी पर; और ट्राटस्की कहते हैं, अपनी सबसे कमजोर कड़ी पर। इन दो पराकाष्ठाओं के बीच कम्युनिज्म, निश्चय ही हमेशा सही होगा। लेनिन का जवाब भी ट्राटस्की ही की भांति मार्क्स के विरुद्ध है। लेनिन की बोल्शेविक पार्टी के सक्रिय भाग में हम रूसी क्रान्ति का कारण देखते हैं। थोड़े परिवर्तन के साथ, [कि अब पार्टी को लेनिन स्टालिन की पार्टी कहा जाता है] कम्युनिस्टों ने यह जवाब रट लिया है। वर्ग संघर्ष की यह अन्तिम क्रिया कैसे अपने लौह नियमों के बाहर निकल गई, इसे वैज्ञानिक आधार पर समझाने की कोई कोशिश नहीं हुई। यह आवश्यक भी नहीं था, क्यों कि शीघ्र ही सोवियट रूस और तृतीय अन्तर्राष्ट्रियों ने फिर विश्व क्रान्ति के केन्द्र के रूप में पश्चिमी यूरोप पर अपना ध्यान केन्द्रित कर दिया। क्रान्ति की ऐतिहासिक घटना से ज्यादे महत्व पोथी के वाक्यों को दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व क्रान्ति का मूल्य देकर भी ये यह साबित करना चाहते हैं, कि मानवता अपने विकास की उच्चतम सीमा पर पहले यूरोप में ही पहुँचेगी।

पूंजी के एकत्रीकरण के सम्बन्ध में मार्क्सवाद बिल्कुल सही है। एक दृष्टि से औद्योगिक एकाधिकार और श्रम के समाजीकरण के प्रश्नों के सम्बन्ध में भी सही है। किन्तु यह गरीबी में वृद्धि, वर्ग-संघर्ष और विश्व क्रांति के सम्बन्ध में सत्य से दूर है। उत्पादन के सही विश्लेषण और संचार के नियमों को देख पाने में इसकी भूलों के कारण क्या हैं? ऐसा नहीं है कि गरीबी और धनहीनता पैदा नहीं हुई! अथवा वर्ग-संघर्ष और विश्व क्रांति के स्थान देखे न जा सकते हों। ऐसा भी नहीं है, कि मार्क्स और उनके अनुयायी सम्बन्धित-सत्यों से अनभिज्ञ रहे हों। सच यह है कि मार्क्सवाद इन सत्यों को बचाकर पूंजीवाद के विश्लेषण में, इन्हें बुनकर सिद्धान्त निरूपण नहीं कर सका। पहले हम सम्बन्धित सत्यों को देखें।

पूंजीवाद पहले इंगलैंड में, अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, पैदा हुआ। पूंजीवाद के पहले, चाँदी इकट्ठा होने का कारण, बंगाल की आय

और स्पेन के जहाजों की लूट उतनी ही महत्व की थी, जितना कि ब्रिटेन की आम जमीनों से किसानों का निकाला जाना। सबसे पहले कपड़ा–उद्योग ने पूँजीवाद के टेकनिकल आधार, मशीनों का इस्तेमाल किया। लंकाशायर के इस उद्योग ने, आरम्भ होते ही, एक बाहरी-शक्ति-स्रोत ढूंढा और उसे भारत में पाया। अंग्रेजी वस्त्रोंने आर्थिक ढंग से भारतीय वस्त्रों पर विजय नहीं पायी, इसी से एक ब्रिटिश पार्लियामेन्टरी कमीशन ने कहा था कि 'लंकाशायर के वस्त्र भारतीय बुनकरों की सूखी हड्डियों से सफेद किये जा रहे हैं' तो उसका अर्थ यह नहीं था कि भारतीय कारीगर अंग्रेजी वस्तुओं का मुकाबला नहीं कर सके। भारतीय बुनकरों पर प्रत्यक्ष आक्रमण करने के अलावा, आंतरिक व्यापार का एकाधिकार अपने हाथ में लेकर, इस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके कर्मचारी यह फैसला कर सकते थे, कि कौन सी वस्तु बाजार में आयेगी और कौन सी नहीं।

यह कहना अप्रासंगिक है, कि मशीन से उत्पादित वस्तुएँ, अवश्य ही हाथ से निर्मित वस्तुओं को खतम कर देती हैं। हमारा सम्बन्ध यहाँ इतिहास के वास्तविक विकास से है, न कि किसी रूई व्यवसायी व्यक्ति की राय में इतिहास का विकास कैसा हो सकता है, इस से है। इतिहास दिखाता है, कि भारत में अंग्रेजी राज का समर्थन न मिलने पर, भारत के कारीगर नहीं, लंकाशायर का उद्योग ही आरम्भ में खतम हो जाता।

भारतीय वस्त्रों पर अंग्रेजी वस्त्रों की विजय, राजनीतिक विजय थी। अंग्रेजी शासन के कारण ही आरंभ से ही लंकाशायर-उद्योग को भारत से शक्ति मिली थी। एक बार फिर जैसे ही रेल और इंजन बनाने का भारी उद्योग इंगलैण्ड में, १९वीं सदी के मध्य शुरू हुआ, उसे तुरन्त ही भारत से शक्ति मिली। यह शक्ति, उसे न केवल भारत में बहुसंख्यक इंजनों रेलों और अन्य वस्तुओं के रूप में, वरन् भारतीय रेलों में पूँजी लगाने से भी मिली, जिस पर एक न्यूनतम व्याज सुरक्षित था।

अगर इस तरह की कोई और चीज फिर नहीं होने जा रही हो, तो यह विश्व के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक सौदा था, जिसके अनुसार अंग्रेज पूँजी लगानेवालों को एक सुरक्षित अर्द्धवार्षिक ब्याज मिलता था और जब कभी मुनाफे अधिक होते थे, तो वह भी उन्हें मिलता था। प्रश्न यह नहीं है, कि रेलों से भारत को फायदा हुआ या नहीं। यहां यह सत्य निर्धारित करना है कि अंग्रेजों के अधीन भारतीय रेलों के बिना, ब्रिटिश रेल-रोड उद्योग कभी पनप नहीं सकता था। ब्रिटेन ने भारत को रेलें नहीं दीं। भारत ने ब्रिटेन को रेलें और इंजीनियरिंग उद्योग दिए। इतिहास में ऐसी बातें भरी पड़ी हैं, जो बाह्य आचरण के विरुद्ध जाती हैं।

भारतीय रेलों से ब्रिटेन के इंजीनियरिंग-उद्योग को और सारे ब्रिटिश पूँजीवाद को कई रीतियों से शक्ति मिलती रही है। यह बताने की शायद आवश्यकता नहीं है कि १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में और उसके बाद भारत में जूट, कपास, चाय, तेलहन और चमड़े की वस्तुओं के द्वारा व्यावसायिक कृषि की विशाल वृद्धि ने ब्रिटिश पूँजीवाद को अति आवश्यक शक्ति दी।

कृषि का यह व्यवसायीकरण साम्राज्यवादी—औपनिवेशिक स्तर पर हुआ; (क) भूमिहीन मजदूरों को भूखमरी की मजदूरी देकर, जैसे; आसाम में, तथा (ख) किसानों को (कुछ कपास बोनेवाले किसानों को छोड़ कर) बहुत थोड़ी मजदूरी देकर; जैसे उत्तर प्रदेश बंगाल और बिहार में, (ग) एक बार फिर १९१४ के युद्ध के बाद जब ब्रिटिश पूँजीवाद को अपने आम संकट का सामना करना पड़ा, १० करोड़ से अधिक के माल की मांग करके भारतीय रेलों ने ही उसे फिर बचाया था। १९३९ के महायुद्ध के चलते रहने पर भी ४२ करोड़ रुपयों की इंजनों की मांग की जा चुकी थी और अगर कोई गड़बड़ी नहीं हुई तो और भी मांग की जायगी।

ब्रिटिश पूँजीवाद के इस संक्षिप्त दिग्दर्शन से हम इस नतीजे पर आते हैं कि पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के आरम्भ और विकास एक साथ

ही हुए। स्वयं अपने साम्राज्यवादी विस्तार अथवा आस्ट्रिया, ब्रिटेन और फ्रान्सके साम्राज्यवादी विस्तार में भाग लेते हुए, जर्मन पूँजीवाद का विकास भी इसी प्रकार हुआ।

हैम्बर्ग जैसे नगर, ईस्ट इंडिया कम्पनी, क्राफ्ट और गिल्ड्स की व्यापारिक कार्यवाहियाँ पूँजीवाद के पूर्व की हैं। मार्क्सवादी इस बात पर जोर देते हैं, कि पूँजीवाद तथा उससे कुछ मिलते-जुलते शोषण के अन्य रूपों के अन्तर को भुलाना नहीं चाहिये। जर्मन पूँजीवाद १९ वीं सदी के मध्य कस्टम्स यूनियन और लिस्टियन अर्थशास्त्र के साथ शुरू हुआ, जिसके अनुसार स्वतन्त्र व्यापार तभी हो सकता है, जब असमानता की ऐतिहासिक स्थिति दुनिया में खतम हो जाय। (यूरोपवासी जर्मन या अंग्रेजों के लिए पश्चिमी यूरोप ही दुनियाँ है।) जर्मनी के बिस्मार्क द्वारा एकीकरण के बाद ही जर्मन पूँजीवाद सही रूप में सामने आया।

ऊपर से देखने पर मालूम पड़ता है, कि अमरीकी पूँजीवाद के विकास भिन्न रीति से हुआ है। परन्तु असलीयत में अमरीका में भी पूँजीवादी विकास को ऐसे ही साम्राज्यवादी स्रोत की आवश्यकता पड़ी और उसने भी उन्हीं तत्वों का प्रयोग किया, जिनका ब्रिटेन ने किया था। ब्रिटेन ने पूँजीवादी विकास के लिए भारत जैसे धने बसे हुए देशों का उपयोग किया। इन दो तत्वों—क्षेत्र और जनसंख्या—का प्रयोग अमरीकी पूँजीवाद ने भी किया। भूमि नयी और फैली हुई थी, तथा जनसंख्या यूरोप से आती थी। यह प्रादेशिक फैलाव १९ वीं सदी के अधिकांश भाग में हुआ। इसे समझने के लिए, १९वीं सदी के आरम्भ और अन्त में सं० रा० अमेरिका के नक्शों पर नजर डालना ही काफी होगा। मध्य पश्चिमी रियासतें, खेतिहर रियासतें, सीमावर्ती रियासतें, और पूर्वी रियासतें, जिनका क्षेत्रफल भार से अधिक है, इसी प्रसार के परिणामस्वरूप संयुक्त राष्ट्र में दिखाई गईं।

इन क्षेत्रों के आदिवासी रेड इंडियनों को युद्धों और छिटफुट लड़

इयों में लगभग खतम कर दिया गया। भूमि के एक बड़े टुकड़े के लिये, जिसे बाद में खरीद लिया गया, सं० रा० अमरीका के राष्ट्रपति ने अपने दूतों को आधुनिक रीति के हथियारों से लैश कर, दो आदेश पत्र देकर भेजा था कि अगर सम्भव हो तो खरीदें अन्यथा युद्ध करके ले लें। इस क्षेत्र के लिए जन-शक्ति का प्रश्न भी साम्राज्यवादी ढंग से हल किया गया। इस शताब्दी में यूरोप से ३ करोड़ धनहीन व्यक्ति आये और फैक्ट्रियों अथवा फार्मों के आसपास बस गये।

इन धनहीनों की कहानी मार्क्स के विश्लेषण के विरुद्ध है। इंगलैण्ड और फ्रान्स में पूँजीवाद के उठने के पहिले अधिकांश धनहीन व्यक्ति इन्हीं देशों के होते थे। लन्दन की सड़कों पर अंग्रेज पुरुषों के द्वारा अंग्रेज स्त्रियाँ गायब करने और न्यूयार्क के बन्दरगाह पर 'पहली नजर में शादी' की कहानियाँ बहुत प्रचलित हैं। इंगलैण्ड में पूँजीवाद के विकास ने इसका अन्त कर दिया। तब, पूँजीवादी होने के पहिले जर्मनी, इटली और आयरलैण्ड की बारी आई। आखिर में स्लाव जातियाँ आईं। गुलामों के रूप में निग्रो-श्रम इसकी पहले की सदी में लाया गया था।

आनेवाले हर नये जत्थे के साथ, कम से कम एक पीढ़ी तक पुराने निवासियों का सम्बन्ध साम्राज्यवादी—औपनिवेशिक रूपवाला ही रहता, जब तक कि वे पूर्णतया अमरीकी न बन जाते। पूँजीवाद और साम्राज्यवाद साथ साथ विकसित हुए हैं, यह अमेरिका के उदाहरण से स्पष्ट है। एक ही देश और एक ही राष्ट्र के अन्दर, उनके संयुक्त विकास का परिणाम ब्रिटिश पूँजीवाद एवं साम्राज्यवाद के विकास से बिल्कुल भिन्न है। अमरीकी पूँजीवाद ने अमरीकी साम्राज्यवाद को किस तरह परास्त किया, यह जेफरसनों, जैकसनों और लिंकनों की वीरता की कहानी है। किन्तु यह विजय, नयी और स्वस्थ अमरीकी राष्ट्रियता के कारण हुई अथवा प्राकृतिक साधनों के बाहुल्य के कारण, इसके फलस्वरूप अब भी विश्व के पैमाने पर साम्राज्यवादी

औपनिवेशिक सम्बन्ध पैदा होंगे अथवा नहीं, ये प्रश्न इस लेख के विषय के अन्तर्गत नहीं आते। शायद यह कहने की जरूरत नहीं है कि जापानी पूँजीवाद, अधिकतर सरकारी आय से तेजी से बनने वाले उद्योग-धन्धों के रूप में शुरू हुआ और इस कारण साम्राज्यवाद की राह पर जाने के पहले, लगभग २० वर्षों तक रुका रह सका। इन बहुसंख्यक सत्यों को देखते हुए, समझ में नहीं आता, कि कोई साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की आखिरी दौर कैसे कह सकता है ?

लेनिन ने इस विषय पर एक पूरी पुस्तक लिखी है, कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद की आखिरी दौर है। इस आश्चर्यजनक वाक्य का यही अर्थ है, कि उपनिवेशों और अर्द्ध उपनिवेशों में अधिकाधिक पूंजी लगाई गई। अगर हम साम्राज्यवाद को पूंजी लगाने तक ही सीमित रक्खें, तो उपनिवेशों पर पूंजीवाद ने आरम्भ से ही कारखानों में बनी चीजें लादी और अब तक जो लाद रहा है, उन्हें क्या कहेंगे ? वेतनों, पेन्शनों और मुद्रा की चालों द्वारा जो अन्य लूटें होती हैं, उनका जिक्र तो छोड़ ही दीजिए। इसके अतिरिक्त पूंजी भी ब्रिटेन ने १८५० के लगभग ही लगानी आरम्भ कर दी थी, जब कि वह पूंजीवादी विकास का मध्य ही था। लेनिन ने उपनिवेशों में लगी हुई पूंजी की निरन्तर वृद्धि के सम्बन्ध में जो आकड़े दिये हैं, उनका महत्व साधारण हिसाब-किताब से अधिक नहीं है, क्योंकि अगर उपनिवेशों में पूंजी बढ़ी है, तो पूंजीवादी उत्पादन भी बढ़ा है। अधिक दिलचस्पी रखने वाले व्यक्ति १८५०-६० या ६०-७० तथा १९००-१० में ब्रिटेन के कुल औद्योगिक उत्पादन, उपनिवेशों में लगाई गई पूंजी और कुल निर्यात के अनुपात की तुलना अगर प्रकाशित करें, तो बहुत उपयोगी हो। अगर लेनिन इस तरह की तुलना करते, तो उन्हें ज्ञात होता, कि तीनों ही श्रेणियों का परिमाण तो बढ़ गया किन्तु उनके अनुपातमें कोई विशेष अन्तर नहीं आया। 'साम्राज्यवाद' शब्द के इस प्रकार गलत प्रयोग से पूंजीवाद साम्रज्यवाद

के संयुक्त विकास का सत्य बहुत कुछ छिप गया और पूंजीवाद के संबंध में मार्क्स के सिद्धान्तों में सफाई आने के बजाय और गडबड़ी हो गयी। रूसी होने के कारण, लेनिन पर शायद इस बात का प्रभाव था, कि उनका राष्ट्र पश्चिमी राष्ट्रों की पूंजी लगने पर ही, पश्चिमी पूंजीवाद के सम्पर्क में आया। वे हिल्फरडिंग द्वारा प्रयुक्त शब्द 'चित्त पूंजी' (Finance-copila) को भी शायद एक चतुर मोड़ देना चाह रहे हों। आश्चर्य की बात यह है, कि भारतीय सोशलिस्ट भी बेहिचक इस वाक्य को दुहरा रहे हैं। लेनिन और ये, शायद यही कहना चाहते हैं, कि पूंजीवाद ने सारे विश्व को ही अपने जाल में फंसा लिया है और इसलिये या तो वह युद्ध करे या मर जाय, अथवा उपनिवेशों के और गहन शोषण के द्वारा नयी शक्ति प्राप्त करे। यह भी सम्भव है, कि हर देश में मार्क्सवादी वर्णन के अनुरूप 'सर्वहारा वर्ग' खोजने की अपनी चेष्टा में, उन्होंने साम्राज्यवाद को 'साम्राज्यवाद द्वारा बड़ी पूंजी लगाने' से मिला देने की चेष्टा की।

साम्राज्यवाद, न केवल पूंजीवाद की पहली दौर में प्रकट ही होता है, वरन् उसके साथ विकसित भी होता जाता है। हम कह सकते हैं, कि जन्म के पहले ही पूंजीवाद कोई बाहरी शक्ति-स्रोत ढूंढ़ता है और अपनी अपरिमित भूख में एक के बाद एक देश को हजम करता जाता है। पहले बंगाल, फिर अमरीका, तब सारा भारत, फिर चीन और मिश्र, फिर दक्षिणी अमरीका और मलाया, जावा, ब्रह्मा, और अफ्रीका का विशाल महाद्वीप, इस प्रकार विश्व की सीमाएं समाप्त हो गयीं। कोई एक शक्ति-स्रोत पूंजीवाद के लिए अधिक देर तक नहीं चलता। शीघ्र ही वह सूख जाता है, परन्तु पूंजीवाद जिस जादूभरी चतुराई से पुराने शक्ति-स्रोतों का प्रयोग नयों को जीतने के लिये करता है, उसका क्रम चलता जाता है। जैसे, बंगाल का प्रयोग संयुक्त प्रान्त को जीतने के लिये भारत का चीन और ब्रह्मा को। पुराने उपनिवेश, न केवल गृह-उत्पादन के लिए अतिरिक्त धन देते हैं, वरन्

जन-शक्ति भी देते हैं। उदाहरणतः, मलाया में चीनी और भारतीय; पूर्वी अफ्रिका, फिजी और ट्रिनिडाड जैसे दूर देशों में भारतीय। अगर विश्व, संघर्ष की गर्मी और द्वेष को छोड़कर, पूंजीवाद और उसके विकास के युग १९ वीं सदी की ओर, और इसके बाद के दिनों की ओर मुड़ कर कभी देख सका, तो इतिहास के इस सबसे चतुर दुष्ट की क्रूरता और अनैतिकता पर महान आश्चर्य होगा। लेकिन अब विश्व की सीमाएं समाप्त हो गयी हैं। कभी न मिटने वाली प्रसार की भूख के सामने, अब एक दीवाल खड़ी हो गयी है। अपने प्रसार की आवश्यकता और सीमित विश्व के इस विरोध की समस्या का हल पूँजीवाद कैसे करेगा? कर सकेगा भी कि नहीं? लेकिन यह उसके हाल के विकास और भविष्य का प्रश्न है, जिस पर हम उचित स्थान पर विचार करेंगे। हम इस बीच, इतिहास में पूँजीवाद के विकास के एक और पहलू पर नजर डालें, जिसका इस विरोध से निकटतम सम्बन्ध है। १८ वीं और १९वीं सदी के लगभग, ५० सालों तक दुनियाँ में केवल ब्रिटेन का ही एक पूंजीवाद था। उसने सारी दुनियाँ में, युद्ध में अपनी शक्ति और शान्ति में अपने धन के आधिक्य का प्रदर्शन किया। यह चचेरे-ममेरे भाइयों के जन्म में सहायता देने को भी प्रस्तुत था। पर उपनिवेशों के साथ कितना भी अधिक व्यापार हो और उनमें कितनी भी पूँजी लगी हो, पूंजीवाद उपनिवेशों में नहीं पनप सकता। उपनिवेश पूँजीवाद के लिये बांझ साबित हुए। अगर ऐसा न होता तो जापान, जर्मनी या अमेरिका के पहले ही भारत में पूँजीवाद विकसित हो जाता। पूँजीवाद 'मशीनें बनाने की मशीनें' भाई-पूँजीवादों को ही बेचता है, यानी ऐसे स्वतन्त्र देशों को बेचता है, जिनमें पूँजीवादी-विकास की शक्तियाँ हैं; जैसे इसमें जाति-चेतना हो और वह कुजाति वालों को न चाहता हो। ये भाई बारी-बारी से हिस्सेदार और शत्रु बनते हैं, यह दुर्भाग्यपूर्ण है। लेकिन फिर भी यह बहुत से ऐसे बच्चे पैदा करने से अच्छा है, जो आगे

वयस्क हो, हिस्सेदारी का दावा करे। लेकिन इससे बहुत से सवाल पैदा हो जाते हैं। क्या यह सम्भव है कि कोई नयी अर्थ-व्यवस्था, जो युद्ध और सम्पत्ति-संग्रह में अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित कर दे, अपने जैसे और भाई पैदा करे? क्या यह सम्भव है कि किसी दौर में पिछड़ा हुआ देश भी इस प्रकार की व्यवस्था बनाना चाहे? क्या यह सम्भव है कि विरोधी व्यवस्थाएँ, अपने में एक दूसरे की विशेषताएँ लाने की चेष्टा करें, उदाहरणतः पूँजीवाद और समाजवाद।

इस शताब्दी के पहले दशक तक, ब्रिटेन के अलावा, इस तरह के चार पूंजीवादों का जन्म हो चुका था, जर्मन, अमरीकी जापानी और फ्रांसीसी। पूँजीवाद की इस वृद्धि ने पूँजीवादी-प्रसार और सीमित विश्व के संघर्ष को और भी तीव्र कर दिया। इस प्रकार हम एक ऐसे युग में रह रहे हैं, जो साम्राज्यवादी युद्धों का युग कहलाता है और जिसे अधिक औचित्य के साथ पूंजीवादी युद्धों का युग कहा जा सकता है। क्या पूंजीवाद नये पूंजीवादों के जन्म को रोक सकता है? क्या वह कुछ वर्त्तमान पूंजीवादों को दबा सकता है? क्या सड़न के जरिये यह सम्भव है, कि विश्व समाजवादी बनने के बजाय पूंजीवादी ही बना रहे? ये भविष्य के विकास से सम्बन्धित कुछ कठिन प्रश्न हैं। इस समय हम अपनी जांच के नतीजों के आधार पर पूंजीवादी विकास के एक सही सिद्धान्त को निर्मित करें। हमने पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का संयुक्त विकास देखा। अन्त में हमने देखा कि क्षेत्रीय दृष्टि से सीमित साम्राज्यवाद से पूंजीवादों की संख्या बढ़ती गई है।

श्रमका साम्राज्यवादी औपनिवेशिक विभाजन और आतिरिक्त मूल्य की सही परिभाषा :

क्या साम्राज्यवाद के बिना भी पूंजीवाद संभव है? इस प्रश्न का उत्तर संक्षेप मे देने के पहले यह समझ लेना जरुरी है, कि इतिहास में

अबतक साम्राज्यवाद के बिना पूंजीवाद नहीं हुआ है ! और इस कारण, यह प्रश्न-भविष्य से सम्बन्धित है, जिसका उत्तर भविष्यवाणी ही हो सकती है। सिद्धान्ततः स्पष्ट रूप से केवल आन्तरिक शक्ति पर निर्भर पूंजीवाद की संभावना किसी बड़ी जन संख्या वाले बड़े देशों में नहीं है। ऐसा होने पर, उसे पूंजीवाद और साम्राज्यवाद दोनों के बोझ उठाने होंगे। इन बोझों से वह टूट जायगा। इतना तो निश्चय है, कि इससे इतने बड़े पेमाने पर गरीबी फैलेगी, जिसका अनुभव पहले कभी नहीं हुआ।

अब हम पूंजीवादी विकास के सिद्धान्त को पुनः निर्मित करें। मार्क्स ने आरम्भ में ही यह गलती की, कि उसने पूंजीवाद को उसके साम्राज्यवादी प्रसंग से अलग करके देखा। मार्क्स साम्राज्यवादी शोषण से अनभिज्ञ नहीं थे और उनके अनुयायी लेनिन ने उसे और भी अधिक महसूस किया, लेकिन उनकी दृष्टि में साम्राज्यवाद, एक बाद की चीज थी, एक गन्दा अतिरिक्तांग था और इस कारण उन्होंने केवल औपनिवेशिक जातियों के प्रति एक साधारण सहानुभूति दिखाई, जिसमें अधिक गहराई की छानबीन नहीं थी। अतः मार्क्सवाद पूंजीवादी विकास की तर्कोचित पूरी व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर सका। उसके पूंजीवाद की तस्वीर पश्चिमी यूरोप की तस्वीर है, जिसमें अमरीकी और जापानी पूंजीवाद बाद में जुड़ गये। वह बाकी दुनियों से अलग अपने आप में ही विकसित हुआ है। पूंजीवाद की सारी गत्यात्मक शक्तियां उसके आन्तरिक ढांचे में, श्रम-शक्ति के मूल्य और उसकी उपयोगिता में और एक ही ढांचे के अन्दर सर्वहारा वर्ग और पूंजीपति वर्ग के संघर्ष में रखी गई हैं। मार्क्स का पूंजीवाद एक स्वतः चालित पश्चिमी यूरोप के घेरे का पूंजीवाद है, जिसका बाहरी दुनियों पर प्रभाव तो निश्चिय ही बहुत अधिक पड़ता है, किन्तु जिसकी गति के सिद्धान्त और नियम पूर्णतः आन्तरिक हैं। मार्क्सवाद आज दिन तक इसी तस्वीर के साथ बंधा हुआ है। बाह्य प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में सिद्धान्त तो निश्चय ही बनाता

है; किन्तु पूंजी की बाह्य और आन्तरिक गति के आपसी सम्बन्धों के बुनियादी सिद्धान्त को प्रकट करने मे पूर्णतः असमर्थ हैं। समाजवाद को सदा के लिए इस मार्क्सवादी असत्य चित्र को नष्ट करना है। इसके स्थान पर दो घेरों का एक चित्र, एक दूसरे के अन्दर बनाना होगा, जिसके अन्दर का घेरा स्वतन्त्र पूंजीवादी ढांचे का प्रतिनिधित्व करे, जिसे पूंजीवादी लाभ और यन्त्रीकृत श्रम के विरोध से गति मिलती हो और बाहरी घेरा बाकी दुनियाँ के औपनिवेशिक अर्थतन्त्र का प्रतिनिधित्व करे, जिसकी गति, साम्राज्यवादी शोषण और औपनिवेशिक श्रम में हैं। अन्दर के घेरे में बाहरी घेरे से गत्यात्मक शक्ति को खींच लेने की विशाल शक्ति है। यही तरीका है, जिससे हम पूंजी-श्रम की गत्यात्मक शक्ति को साम्राज्य-उपनिवेश की गत्यात्मक शक्ति से मिलाकर पूंजीवाद के विकास को ठीक-ठीक समझ सकते हैं।

कुछ लोग यहाँ कहेंगे कि पूंजीवाद के मार्क्सवादी अध्ययन में दोनों प्रकार की गत्यात्मक शक्तियाँ मौजूद हैं। इससे कोई इन्कार नहीं करता। प्रश्न यह है, कि क्या दोनों शक्तियाँ इस प्रकार सम्बद्ध हैं और उनकी सम्बद्धता के नियम इस प्रकार ज्ञात हैं, कि उससे विश्व-स्थिति को सही-सही समझा जा सके? समाजवाद को इसी सम्बद्धता का अध्ययन करना है। उस प्रकार की बुद्धि के लिये, जो स्थूल मूल्यांकन से ही संतुष्ट होती है, मैं यहाँ कह दूँ कि सभी यूरोपियनों में क़ाल मार्क्स यूरोपीय इतिहास के सबसे बड़े अर्थशास्त्री हैं। किन्तु हम इससे सन्तुष्ट नहीं हो सकते, क्योंकि हमें विश्व इतिहास के अर्थशास्त्र की आवश्यकता है।

पूंजीवादी विकास के उपर्युक्त सिद्धान्त श्रम-मूल्य और उसकी उपयोगिता मूल्य के अन्तर और उससे उत्पन्न होने वाले अतिरिक्त मूल्य से आरम्भ होता है। अतिरिक्त मूल्य के द्वारा ही फिर पूंजीवादी विकास के अन्य नियम भी प्रकट होते हैं। श्रमके मूल्य और उसकी उपयोगिता, दोनों के ही सम्बन्ध में अपनी खोज के प्रकाश में हमें इन नियमों को फिर से देखना

है यद्यपि मार्क्स ने श्रम को एक भाव- (Abstract) पदार्थ माना है किंतु यथार्थ मे वह ऐसा है नहीं हैं। आदर्शवादी विचारों से अपने सारे विरोध के बावजूद, कम्युनिस्ट श्रम को एक आदर्श, भावात्मक अव्यक्त पदार्थ मानते रहे हैं। वस्तुतः पूंजीवाद के अन्तर्गत श्रम के दो रूप प्रकट होते हैं, जो एक दूसरे से इतने भिन्न हैं, कि उन्हें एक साथ देखने पर, कभी भी ठीक २ नहीं समझा जा सकता। श्रम या तो साम्राज्यवादी रहा है, या औपनिवेशिक और दोनों के मूल्य में बहुत बड़ा अन्तर भी रहा है। इसी अन्तर के कारण इन्हें श्रम की 'सामाजिक दृष्टि से प्रभावशाली' आवश्यकताओं का सिद्धान्त निकालना पड़ा। किन्तु श्रम की अनिवार्य आवश्यकताओं के संबंध में अपने बुनियादी विचार के कारण ही, वह नये और सही विचारों को अच्छी तरह नहीं समझ सका। श्रम की अनिवार्य आवश्यकताएं नहीं होती। कम से कम, अकाल के समय के अतिरिक्त, उसकी कोई आर्थिक सार्थकता नहीं होती। मानवी श्रम ने जीवित रह कर, काम करने की बहुत बड़ी शक्ति दिखाई है और औपनिवेशिक श्रम के २ आने प्रति दिन से साम्राज्यवादी श्रम के ४ रुपए प्रति दिन तक उसकी आवश्यकताएं रही है। इससे प्रकट होता है, कि श्रम की आवश्यकताएं शरीर अथवा प्रकृति द्वारा निर्धारित न होकर, इतिहास द्वारा निर्धारित होती हैं।

विश्व के विभिन्न देशों में धन के वर्तमान वितरण को विश्वविद्यालयों के अर्थशास्त्रियों ने समझने की चेष्टा की है और कुछ विचारों की सहायता से अपनी राय भी कायम की है। यहां हम कुछ मुख्य विचारों का अध्ययन करेंगे।

(क) श्रम की अनिवार्य आवश्यकताएँ:—माना जाता है कि हर देश में श्रम की आवश्यकताएँ भिन्न हैं। इंगलैंड और जर्मनी जैसे सर्द जलवायु वाले देश के बारे में लोग कहते हैं, कि वहाँ अच्छे खाने, अच्छे मकान, अधिक वस्त्र आदि की आवश्यकता, गरम जलवायु वाले अफ्रीका या

भारत की अपेक्षा अधिक होती है। यह भी मान लिया जाता है, कि इन अधिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप, सर्द जलवायु में श्रम की उत्पादन-शक्ति भी अधिक होती है। इस प्रकार सर्द जलवायु में अधिक आवश्यकता और अधिक उत्पादन शक्ति के सिद्धान्त चल पड़े हैं। यह सिद्धान्त पूरी तौर पर गलत है। कोई कारण नहीं है, कि जर्मन-व्यक्ति निब्रत-निवासियों के भोजन से काम न चला सके और अपनी पीठ पर अंगीठी रखकर न चले या एक खाल के कोट में सारी जिन्दगी न बिताए। इसी प्रकार इसका भी कोई कारण नहीं है, कि ऊष्ण सूर्य की तपन से बचने के लिये बिजली के पंखों, एयर कन्डीशनिंग, फलों के रस और अन्य पौष्टिक भोजन के बगैर ही एक भारतीय कार्य कर सकता है। अगर जलवायु का कोई आर्थिक प्रभाव है, तो ठंडी जलवायु की आग और गर्मी पहुँचाने के अन्य साधनों के मुकाबले, गर्म जलवायु में बिजली के पंखे और एयर कन्डीशनिंग हैं, मांस और शराब के मुकाबले में दूध और फल का भोजन है। इस प्रकार यह औचित्य के साथ कहा जा सकता है, कि श्रम की आवश्यकताएँ गर्म जलवायु में सर्द जलवायु की अपेक्षा अधिक होती हैं, किन्तु ऐसा कहने के लिये सर्द जलवायु की अपेक्षा गर्म जलवायु में अधिक राजनीतिक शक्ति की आवश्यकता होगी। सचमुच ऐसा समय भी था, जब यूरोपीय व्यक्ति एक ही एस्किमों कोट में और अधिक सुविधाओं के बिना भी रहते थे। अतः यह स्पष्ट है कि श्रम की कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। यह आवश्यकता किसी देश की राजनीतिक शक्ति द्वारा निर्धारित होती। भारतीय किसान के लिये आज खुले मैदान में सोना स्वाभाविक माना जाता है, किन्तु शायद भिन्न राजनीतिक जलवायु में उसके श्रम के लिये बिजली से प्रकाशित और स्वास्थ्यवर्द्धक पक्का मकान भी उतना ही स्वाभाविक माना जाय जितना कि खुले मैदान का सोना।

अब हम इस प्रश्न पर आते हैं, कि श्रम क्या उत्पन्न करता है?

(ख) श्रम की उत्पादन शक्ति :—सर्द जलवायु में श्रम की उत्पादन शक्ति जलवायु के कारण ही अधिक होती है, यह सिद्धान्त इतना स्पष्ट असत्य है, कि उसे छोड़ दिया गया है। अब उस पर भिन्न आवरण डाल दिये गये हैं। औपनिवेशिक श्रम की निम्न-उत्पादन-शक्ति का कारण, उचित भोजन, शिक्षण या कुशलता की कमी बताया जाता है। भारतीय अर्थशास्त्री और व्यापारी खुलेआम इन विचारों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार जब भारत में इस्पात के कारखाने के मजदूर की कम उत्पादन शक्ति की तुलना अंग्रेज मजदूर की अधिक उत्पादन शक्ति से की जाती है, तो इसका कारण भारतीय मजदूर के निम्नकोटि के भोजन और शिक्षण की कमी को बताया जाता है। इस प्रकार हमारे पूँजीपति और अर्थशास्त्री अपनी शर्म और बेइज्जती को छिपाने की चेष्टा करते हैं। पश्चिमी यूरोप के अर्थतन्त्र के लिए, कार्ल मार्क्स ने निर्णयात्मक रीति से इसे प्रमाणित कर दिया था, कि कुशल और अकुशल मजदूरों का अन्तर बिल्कुल अस्थायी है। जो आज कुशल हैं, कल वही अकुशल हो सकता है तथा जो श्रम आज बिल्कुल सस्ता मिल जाता है, कल उसी के लिये अच्छी मजदूरी आवश्यक हो सकती है। हम अपने रिक्शेवालों को ही देखें। इससे ज्यादा श्रम लगनेवाला और कुशलता की आवश्यकता वाला श्रम बहुत कम है। इसी प्रकार अगर भारतीय धातु-मजदूर और अंग्रेज धातु-मजदूर के श्रम को नापने का कोई तरीका हो तो, यही ज्ञात होगा, कि भारतीय मजदूर श्रम नहीं करता। आर्थिक सत्य यह है, कि भारतीय मजदूर या किसान को उतना ही नहीं, बल्कि उससे भी अधिक श्रम करना पड़ता है जितना, कि बेहतर भोजन पानेवाले ब्रिटिश मजदूर को करना पड़ता है। फिर क्या यूरोपीय श्रम की अधिक कुशलता इसका कारण है? हम रिक्शावालों का जिक्र पहले ही कर चुके हैं, जिससे अधिक कुशलता की आवश्यकता इस्पात-उद्योग के किसी काम में भी नहीं होती है। भारत में मोटर या बस चलानेवाला यूरोप के मोटर या बस चलानेवाले से कम कुशल नहीं होता। शायद यहाँ तात्पर्य

केवल किसी खास, मशीन को चलाने की कुशलता से है, जिसका यह अर्थ नहीं है ? कि एक प्रकार की कुशलता दूसरे प्रकार की कुशलता से ऊँचे किस्म की होती है। यहाँ यह भी साबित करना कठिन है, कि वही कार्य करने वाले भारतीय मजदूर से अंग्रेज मजदूर किस प्रकार भिन्न हैं। यह सम्भव है कि खास किस्म की मशीन की आदत पड़ जाने से कुछ सुविधा होती है, और इस कारण पहले से काम करनेवाले मजदूर को कुछ अस्थायी लाभ होता है। किन्तु शीघ्र ही स्थिति समान हो जाती है। अतः हमारे उद्योग-धन्धों में खराब भोजन और अकुशलता के कारण, कम उत्पादन करने वाला मजदूर, अन्यत्र के मजदूरों के बराबर ही शारीरिक शक्ति और कुशलता का योग करता है। फिर भारतीय पूँजीपति क्या केवल अपनी अयोग्यता का बोझ ही हमारे मजदूरों पर लादने की चेष्टा करते हैं !

(ग) पूँजीवादी उद्योग :—किताबी अर्थशास्त्र के अनुसार उत्पादन के तीन अंगों; भूमि, श्रम और पूँजी की, सब से अधिक लाभदायक अनुपात में मिलाने की योग्यता, खतरा उठाने और उद्योग के नये-नये क्षेत्रों में विज्ञान को युक्त करने की इच्छा, उद्योगपति की कुशलता के अंग मानी जाती हैं। इस सवाल के अतिरिक्त, कि पाठशाला के शिक्षक की जैसी कुशलता की अपेक्षा, इस कुशलता को, अधिक लाभ क्यों हो; यह कहना निरर्थक है, कि अधिक महत्वपूर्ण देशों में उद्योगपतियों की कुशलता बढ़िया या घटिया किस्म की है। भारतीय पूँजीपति अपने कारखानों का स्थान चुनने में और क्रय-विक्रय में उतने ही कुशल हैं, जितने यूरोपीय पूँजीपति। वे तो श्रम का उपयोग करने में अधिक चतुर हैं। सट्टेबाजी की साहसिकता से प्रकट है, कि वे बड़े-बड़े खतरे भी उठा सकते हैं। एक देश के आन्तरिक अर्थतन्त्र में उद्योगपति की कुशलता का जो भी महत्व हो, दो महत्वपूर्ण देशों के सम्बन्ध में इसका कोई भी महत्व नहीं है। महत्व की बात किसी देश का पूर्ण आर्थिक ढाँचा है, जो स्वभावतः उसकी राजनीति पर निर्भर

रहता है। यही कारण है, कि व्यापारिक सट्टेबाजी में तो भारतीय पूँजीपति बहुत बड़ा खतरा उठाता है, किन्तु उद्योग और विज्ञान के नये प्रयोग करने में पूर्णतः असमर्थ होता है। औद्योगिक खतरों में वह कछुए की तरह कायर होता है, शायद इसीलिए, कि वह जानता है, कि अगर उसने सिर निकाला तो कट जायगा। हमारी निम्न उत्पादन शक्ति का कारण श्रम की न्यून उत्पादन शक्ति, न्यून आवश्यकता या उद्योगगति की अकुशलता में न देखकर, औपनिवेशिक आर्थिक ढांचे में देखना चाहिये।

(घ) राष्ट्रिय-साधन :—किताबी अर्थशास्त्र में जिसे 'श्रम का भौगोलिक विभाजन कहा जाता है, उसे समझाने और उसका औचित्य सिद्ध करने के लिए विभिन्न देशों के प्राकृतिक साधनों का जिक्र किया जाता है। उदाहरण के लिये, लंकाशायर के वातावरण में नमी है, अतः कहा जाता है, कि महाराष्ट्र की कपास उत्पन्न करनेवाली काली मिट्टी के साथ मैन्चेस्टर के वस्त्र उद्योग का सम्बन्ध ऐसा है, जिससे दोनों को ही लाभ होता है। भारतीय सूती मिलों में नकली छिड़काव के प्रयोग ने इस सम्बन्ध को पूर्णतः नष्ट कर दिया है; क्योंकि दोनों ओर के यातायात के खर्च से इस छिड़काव का खर्च बहुत ही कम होता है। इसका अर्थ यह नहीं, कि प्राकृतिक साधनों की भिन्नता का कोई महत्व नहीं। आंशिक रूप में इन्हीं साधनों के कारण संयुक्त राज्य अमेरिका की स्थिति विश्व में इतनी महत्वपूर्ण है; विश्व के एक चौथाई साधन उसके पास है, जबकि उसकी जनसंख्या, विश्व की केवल ६ प्रतिशत है। यहाँ भी बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। वैज्ञानिक आविष्कारों के द्वारा प्राकृतिक साधनों के अन्तर को लगभग खतम किया जा सकता है। किसी देश के वर्त्तमान साधनों का अनुमान कोयला, लोहा पेट्रोल और जलशक्ति आदि के आधार पर लगाया जाता है, जिसका महत्वइस समय भी बहुत अधिक है। किन्तु यह विश्वास किया जा सकता है, कि विज्ञान कोयले से पेट्रोल और

लकड़ी से चीनी बना लेगा और अगर इन उद्योगों को विश्व के दृष्टिकोण से अपव्यय समझा जाय, तो भी प्लास्टिक और विद्युत सम्बन्धी महत्वपूर्ण नये आविष्कार ऐसे हैं, जो बिल्कुल नये उद्योगों की सम्भावना प्रकट करते हैं। औद्योगीकृत देशों में लोहा और इस्पात के मजबूती से जमे हुए स्वार्थ, प्लास्टिक उद्योग के विकास को असम्भव बना सकते हैं; जबकि कोई ऐसा देश, जिसमें लोहा कम हो, इस उद्योग का विकास करके बहुत बड़ा लाभ उठा सकता है। वैज्ञानिक आविष्कार इस प्रकार प्राकृतिक साधनों में वृद्धि कर विभिन्न देशों के विभेद को मिटा सकता है। निस्सन्देह विज्ञान को अब की अपेक्षा अधिक सावधान, जीवित और अलग देशों में वैभिन्य लिये योग्य होना पड़ेगा ; अबतक जिन दिशाओं में प्रगति हुई है, अन्धा होकर उन्हीं में चलने से लाभ नहीं। इस प्रकार प्राकृतिक साधनों के अन्तर को मिटाया जा सकता है और कोई देश, जो इस समय गरीब है, अन्य देशों का नेतृत्व भी, चाहे कितने ही अल्प समय के लिये, कर सकता है। सचमुच लाभदायक विश्व व्यापार चल सके और श्रम के भौगोलिक विभाजन का सही ज्ञान प्राप्त हो सके, इसके लिये विश्वके विभिन्न भागों में विज्ञान को खुला क्षेत्र मिलना चाहिएऔर उसकी सम्भावनाओंका सूझ-बूझ के साथ मानवी उपयोग करना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं किया जाता, तब तक प्राकृतिक साधनों के सम्बन्ध में किताबी शिक्षा को सन्देह की दृष्टि से ही देखना पड़ेगा और उसे श्रम के भौगोलिक विभाजन ; अर्थात् एक ओर साम्राज्यवादी ढांचे और दूसरी ओर औपनिवेशिक ढांचे का औचित्य सिद्ध करने का एक प्रयत्न ही समझा जायगा।

हमने यह देखाहै, कि एक देश से दूसरे देश की तुलना करने पर आवश्यकताएँ, श्रम की अनिवार्य उत्पादन शक्ति, पूँजीवादी कौशल, और प्राकृतिक साधन के विचार या तो निरर्थक होते हैं या सत्य का ज्ञान प्राप्त करने में हानिकारक। वर्तमान विश्व अर्थतन्त्र और पिछली दो शताब्दियों में

उसके इतिहास को सही-सही समझने के लिए' श्रम की राजनीतिक दृष्टि से अनिवार्य आवश्यकता', पूरे आर्थिक ढांचे की उत्पादन शक्ति और 'श्रम के साम्राज्यवादी-औपनिवेशिक विभाजन' के विचारों की आवश्यकता है।

हमलोग अब तक जिन्हें अर्थशास्त्र के विज्ञान के रूप में जानते रहे हैं, वे केवल हिसाब-किताब, औद्योगिक प्रबन्ध, व्यापार और बैंकिंग के नियम हैं। अर्थशास्त्र के विज्ञान को अभी प्रौढ़ होना है। अर्थशास्त्र द्वारा आंकड़ों के दयनीय प्रयोग से भी यही प्रकट होता है।

विभिन्न देशों के कुल वार्षिक उत्पादन, उनकी राष्ट्रिय आय, विदेशी व्यापार, पूँजी लगाने की मात्रा आदि के सम्बन्ध में बहुत से आंकड़े उपलब्ध हैं। अर्थशास्त्र उनसे क्या करता है? वह केवल छिछले अनुपात स्थापित करके ही रुक जाता है। उदाहरणतः; हम जानते हैं कि औसत-वर्ष में ब्रिटेन के उत्पादन का २० प्रतिशत निर्यात-व्यापार में लगता है और लगभग ३ प्रतिशत भारत आता है। पूँजी से मिलने वाला कुल लाभ और भारत से जानेवाले होम चार्जेज मिलकर ब्रिटेन की राष्ट्रिय आय का २ या ३ प्रतिशत होते हैं। इस छिछले हिसाब से यही प्रकट होता है, कि ब्रिटेन की राष्ट्रिय-आय का अधिक से अधिक ५ प्रतिशत भारत से जाता है। अर्थशास्त्रियों के इन हिसाबों से श्री चर्चिल जैसे राजनीतिज्ञ सत्य के अधिक निकट हैं, जब वे ब्रिटेन की राष्ट्रिय-आय को भारत की देन १५ से २० प्रतिशत तक बताते हैं। शायद यह और भी अधिक है। क्योंकि, श्री चर्चिल जानते हैं, कि आर्थिक मूल्य को धन में व्यक्त करने पर नीचे-नीचे चलने वाली गत्यात्मक शक्ति छिपजाती है और एक स्थान पर शक्ति खतम होने से अन्य स्थानों में भी हानि होती है।

हम भारत के वैदेशिक व्यापार का मूल्यांकन उसी प्रकार करें, जिस प्रकार अर्थशास्त्र के विज्ञान को करना चाहिए। हम देखेंगे, कि औसत

वर्ष में हमारे खेतों और कारखानों में लगे हुए ५००० करोड़ श्रम-घण्टों का विनिमय ब्रिटिश कारखानों में लगे हुए २५० करोड़ श्रम-घण्टों के साथ किया जाता है। जर्मन और जापानी कारखाने भी अपना हिस्सा पाते हैं। ये हिसाब आसानी से लगाये जा सकते हैं। अगर हमारे औसत वर्ष के अनुमानित २००० करोड़ रु० के उत्पादन में से १०० करोड़ रु० की खेतिहर वस्तुएँ निर्यात व्यापार में जाती हैं, तो हमारी जनसंख्या का बीसवाँ भाग, अर्थात् दो करोड़ व्यक्ति उसके उत्पादन में लगते हैं। पूरी तुलना के लिए हमने काम करनेवाली जनसंख्या के बजाय, कुल जनसंख्या को शामिल किया है। प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष २५०० श्रम-घंटे के हिसाब से निर्यात की गई खेतिहर पैदावार में ५००० करोड़ श्रम-घंटे लगे। इसी प्रकार औसत वर्ष में ४००० करोड़ रुपये के ब्रिटिश उत्पादन में १०० करोड़ रुपये की वस्तुएँ निर्यात व्यापार में जाती हैं। इस प्रकार ब्रिटिश जन-संख्या का चालीसवाँ भाग, अर्थात् १० लाख व्यक्ति उसके उत्पादन में लगते हैं। भारत में आयात की गईऐसी औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन में २५० करोड़ श्रम-घंटे लगते हैं। यही वह सच्ची कहानी है, जिससे भारत के वैदेशिक व्यापार सम्बन्धी आंकड़े प्रकट करने में शर्माते हैं, कि २ करोड़ व्यक्तियों के श्रम का विनिमय १० लाख व्यक्तियों के श्रम से और ५००० करोड़ श्रम-घंटों का विनिमय २५० करोड़ श्रम-घंटों से होता है। 'इस अजीबोगरीब विनिमय को समझाने के लिए श्रम की उत्पादन-शक्ति या प्राकृतिक साधन के गलत सिद्धान्त काम नहीं आ सकते। श्रम के साम्राज्यवादी विभाजन और कुल आर्थिक ढांचे की उत्पादन-शक्ति के द्वारा ही इसे समझा जा सकता है। इसके पीछे, पीढ़ियों से भारत, चीन, जावा, मलाया, अफ्रीका और दक्षिणी अफ्रिका के किसानों तथा मजदूरों की बचाई हुई मेहनत है, जो निरन्तर बदलकर इंगलैंड, जर्मनी और जापान की मशीनों में परिवर्तित होती रही है।

अब प्रश्न है, कि इन दो प्रकार के अतिरिक्त मूल्यों को अलग कैसे किया जाय? एक, जो पूँजीवाद अपने कारखानों के मजदूरों से पाता है और दूसरा; जो औपनिवेशिक श्रम से पाया जाता है। इतना अधिक इतिहास और इतनी अधिक निरन्तर बदली हुई गत्यात्मक शक्ति इस प्रश्न के साथ सम्बन्धित हैं, कि कोई संतोषजनक समाधान निकालना बहुत कठिन प्रतीत होता है। लेकिन, अगर हम इस बात को याद रक्खें, कि मजदूर शारीरिक शक्ति और कौशल का प्रयोग सारे विश्व में एक समान ही करते हैं और वैज्ञानिक सुविधा में समानता होने पर उनका उत्पादन भी एक ही समान होगा; तो इतनी विशाल मात्रा में अतिरिक्त मूल्य के निर्माण को एक सरल समाधान से क्या समझा नहीं जा सकता? सचमुच समान मूल्यों के विनिमय में विश्वास करनेवाले विश्वविद्यालयों के अर्थशास्त्रियों को यह समाधान स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। हम एक वर्ष में विश्व के सारे उत्पादन को किसी एक मुद्रा में परिवर्तित करें। इसका ध्यान रखना चाहिए, कि बाह्य मूल्यों को नहीं, बल्कि असली मूल्यों को परिवर्तित किया जाय। तब हम इस उत्पादन को दुनियाँकी काम करनेवाली जनसंख्या में बराबर बराबर बाँट दें। आगे दिये हुए मोटे हिसाबमें विश्व की सारी जनसंख्याको शामिल कर लिया गया है। हमारी अपनी मुद्रा में यह रकम लगभग १०० रु० प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष होगी। जो कोई भी स्त्री, पुरुष या बच्चा अपनी आय के रूप में, इससे कम पाता है, वह जितना कम पाता है, उस सीमा तक पूंजीवाद के अतिरिक्त मूल्य में अपना हिस्सा देता है। जिस व्यक्ति को इस रकम से जितना अधिक धन मिलता है, वह उस मूल्य में से उतना ही अतिरिक्त पाता है। इससे शायद यह प्रकट हो, कि औपनिवेशिक श्रम का ९९ फी सदी और साम्राज्यवादी श्रम का अधिक से अधिक १० प्रतिशत ऐसा है, जिनके शोषण से पूंजीवाद को मुनाफा मिलता है। संभव है, साम्राज्यवादी श्रम का दूसरा १० प्रतिशत के लगभग का टुकड़ा सीमान्तक रेखा

पर हो। अर्थशास्त्री कहलानेवाले मुनीम, शायद, इस हिसाब को देखकर हिचकें। वे कहेंगे, कि यह हिसाब जादू से भारत के उत्पादन को दुगुना कर देता है और इसमें जहाँ एक है, वहाँ दो दिखाई पडते हैं। उन्हें यह याद दिलाने की जरूरत है, कि जिस एक को वे नहीं देख पाते, वह पीढ़ियों से भारत की सीमायें पारकर, पश्चिमी यूरोप और जापान के कारखानों के उत्पादन के रूप में प्रकट होता रहा है। उन्हें यह भी याद दिलाने की जरूरत है, कि शारीरिक शक्ति और कौशल का व्यय सारे विश्व में एक समान ही होते हैं और अगर, आज उसका उत्पादन भारत, चीन या अफ्रिका में कम होता है; तो इसी कारण, कि कई पीढ़ियों का उत्पादन अन्य देशों की मशीनों में जमा पड़ा है।

अब हम अतिरिक्त मूल्य की परिभाषा यहां दे सकते हैं। मजदूर चाहे खेतों के हों या कारखानों के, उस सीमा तक अतिरिक्त मूल्य उत्पन्न करते हैं, जहाँ तक उनकी आय अपने समय के प्रतिमजदूर औसत-विश्व उत्पादन से कम हो।

ऐतिहासिक विकास ने औपनिवेशिक श्रम को मजबूर किया, कि व भुखमरी के किनारे पर रहे। मनुष्य को जीवित रहने और प्रतिदिन का करने के लिये कितनी कम वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है, इस संबंध प्रकृति ने आश्चर्यजनक लोच का प्रदर्शन किया है। इस तरह, हम श्रम मूल्य या वेतन के दो भिन्न रूप देखते हैं, एक साम्राज्यवादी देशों में प्रचलित है और दूसरा उपनिवेशों में। साम्राज्यवादी श्रम और औपनिवेशिक श्रम तथा उनके वेतन का अन्तर अतिरिक्त मूल्यके मूल-स्रोत को समझने के लिये बहुत बड़े महत्व के हैं। इसी प्रकार श्रम के उत्पादन एवं उसकी उपयोगिता को भी संयुक्त पूंजीवादी—साम्राज्यवादी विकास के प्रसंग में ही समझा जा सकता है। पश्चिमी यूरोप के कारखानों के उत्पादन में, उपनिवेशों की कई पीढ़ियों का संचित किया हुआ श्रम प्रकट होता है। अर्थ-

शाखी, जिनमें कम्युनिस्ट भी हैं, सारे उत्पादन का श्रेय साम्राज्यवादी-श्रम को देने और एशिया व अफ्रीका की तुलना में यूरोपीय श्रम की अधिक उत्पादन शक्ति की लम्बी २ बातें करने में गलत फहमी पैदा करते हैं। साधारणतः, श्रम हर जगह एक समान ही शारीरिक शक्ति और कौशल का प्रयोग करता है। जो कुछ साम्राज्यवादी श्रम के अधिक उत्पादन के रूप में प्रकट होता है, वह कई पीढ़ियों से विश्व के श्रम के साम्राज्यवादी—औपनिवेशिक विभाजन का प्रत्यक्ष फल है। हम यह कह सकते हैं, कि अरबों औपनिवेशिक मजदूरों के अदृश्य-प्रेत साम्राज्यवादी कारखानों की मशीनों को चला रहे हैं। पूंजीवादी देशों की उच्च कोटि की मशीनें और उनमें निरन्तर सुधार का कारण अधिकांश रूप में औपनिवेशिक कारखानों और खदानों में उत्पन्न अतिरिक्त मूल्य हैं। इन कारखानों की उत्पादन-शक्ति का निरन्तर उपयोग भी बहुत बड़ी सीमा तक करोड़ों औपनिवेशिक मजदूरों के कारण होता है, जो उनके उत्पादन को खरीदते हैं। वर्तमान उत्पादन की उलझी हुई व्यवस्था में, जिसमें इतिहास की कई उलझी नाड़ियाँ और श्रम के दो अलग-अलग मूल्य हैं, यह पुराना सिद्धान्त, कि पूंजीवादी विकास-श्रम के वेतन और उसके उत्पादन के अन्तर्विरोध द्वारा हुआ है, निरर्थक हो गया है।

अगर पूँजीवाद ने अपने देश के मजदूरों को, उनके उत्पादन से कम वेतन देकर, अतिरिक्त मूल्य प्राप्त किया है, तो औपनिवेशिक मजदूरों से प्राप्त कहीं अधिक अतिरिक्त मूल्य भी इसके साथ जुड़ा हुआ है। इंगलैंड और जर्मनी के अत्यधिक धनी व्यक्ति और उनका विशाल मध्यम-वर्ग घरेलू मजदूरों से या औपनिवेशिक मजदूरों से अतिरिक्त मूल्य पाते हैं और वह किस अनुपात में ? क्या साम्राज्यवादी मजदूर भी, कम से कम अधिक वेतन पानेवाले औपनिवेशिक श्रम से प्राप्त अतिरिक्त मूल्य का एक भाग नहीं पाते ? इस उलझन से निकलने का एक ही मार्ग दिखाई पड़ता है।

हमें हमेशा के लिये किसी देश के आर्थिक ढांचे को एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में देखना छोड़ देना चाहिये। अतः हमें मार्क्सवादी ढंग से पूँजीवाद को एक स्वतन्त्र पश्चिमी यूरोप की वस्तु के रूप में समझना छोड़ देना पड़ेगा। आरम्भ से अब तक, पूँजीवाद साम्राज्यवादी प्रेरक शक्ति पर ही निर्भर रहा है। हम पूँजीवाद को आन्तरिक और बाह्य, दोनों ही शक्तियों को समझ सकें,, ऐसा सिद्धान्त बनाने के लिए हमें किसी एक आर्थिक ढांचे के अन्दर श्रम के अलग उत्पादन का विचार छोड़कर, सारे विश्व की मेहनत-कश आबादी में औसत के आधार पर वितरित विश्व के कुल उत्पादन का विचार अपनाना होगा। इस प्रकार यह, श्रम की आवश्यकता और उसके उत्पादन में विरोधी न होकर, श्रम की राजनीतिक दृष्टि से प्रभावशाली आवश्यकता में और हर श्रमिक के लिये विश्व के औसत उत्पादन में होगा। श्रम की आवश्यकताओं और उसके उत्पादन के कम्युनिस्ट-आधार पर न तो अतिरिक्त मूल्य को समझा जा सकता है, न उसका कोई हिसाब ही लगाया जा सकता है। अतिरिक्त-मूल्य, जहाँ कहीं भी जिस सीमा तक प्रकट हो, मजदूर की वास्तविक आय और प्रतिमजदूर विश्व के औसत उत्पादन के अन्तर में रहता है। इस अतिरिक्त मूल्य के इतिहास में ही पूँजीवादी विकास के नियमों को देखा जा सकता है।

अतिरिक्त मूल्य, जिसमे पूँजीवादी व्यवस्था के सारे मुनाफे और ऊँची आय बनती है, मुख्यतः औपनिवेशिक फार्मों, खेतों और खदानों से प्राप्त होता है। पूँजीवादी ढांचे का आन्तरिक साम्राज्यवादी वृत्त इस प्रकार घूमता है, कि तेजी से बाहरी औपनिवेशिक वृत्त के श्रम के उत्पादन को अपने में खींच ले। पिछली दो शताब्दियों में औपनिवेशिक अर्थतन्त्र की गतिविधि का चित्रमय वर्णन किया जा सकता है। एक बड़े घेरे के अन्दर चार घेरे स्पष्ट दिखाई देते हैं। सबसे बाहरी और शायद सबसे चौड़ा घेरा भूमिहीन मजदूरों का है और यहीं सबसे अधिक शोषण हुआ है। दूसरा लगभग उतना ही बड़ा समूह, किसानों, मजदूरों और छोटे व्यापारी तथा

प्राथमिक पाठशाला के अध्यापकों जैसे निम्न मध्यम-वर्ग के लोगों का है, जिनका शोषण कुछ ही कम तेजी से हुआ है। इसके बाद मध्यम वर्ग का छोटा समूह है, जो कभी शोषक होता है, कभी शोषित। अन्त में मुट्ठी भर एकाधिकारवादी पूँजीपति हैं, जो अन्तिम अवधि में प्रकट होते हैं और जिन्होंने दूसरों के श्रम से लाभ उठाने का पूँजीवादी गुण प्राप्त कर लिया है। चार वृत्तों वाला यह औपनिवेशिक घेरा आन्तरिक पूँजीवादी घेरे के साथ चलता है, जिसके साथ वह राजनीतिक और आर्थिक गुलामी में बँधा हुआ है। शोषण किसी भी समय घटता नहीं और निरन्तर, विशेषतः पूर्ण ह्रास के बिन्दु पर, भूमिहीन मजदूरों का समूह भूखमरी और अकाल की सूखी हड्डियों से भरता रहता है। औपनिवेशिक अर्थतन्त्र, पूँजीवादी अर्थतन्त्र के लिए एक विशाल गांव बन जाता है। एक देश के अन्दर नगर-गांव के शोषण के सम्बन्ध, इस नगर-गांव के सम्बन्ध की तुलना में कुछ भी नहीं हैं, जिसमें तीन चौथाई मानवता शेषके लाभ के लिए एक विशाल गाँव बन जाती है।

परस्पर सम्बन्धित आन्तरिक और बाह्य स्रोतों के इस साधन के द्वारा हम पूँजीवादी विकास के अन्य पहलुओं को भी समझ सकते हैं। विशेषतः पश्चिमी यूरोपीय उद्योग में पूँजी की विशाल मात्रा समझ में आ जाती है। इन उद्योगों को न केवल अपनी पूँजी का एक बड़ा भाग ही वैदेशिक मुनाफों से प्राप्त होता है, वरन् वस्तुओं अथवा अतिरिक्त पूँजी के रूप में अपने उत्पादन को भी विदेशों में भेजने के द्वार इसके लिये सदैव खुले रहे हैं। विश्व के बड़े भाग में इस तरह के उद्योग-धन्धे नहीं चले, इस कारण पश्चिम-यूरोपीय उद्योग में पूँजी इतनी विशाल मात्रा में लग सकी और ये उद्योग एकाधिकारवादी बन सके। पश्चिमी यूरोप की जनसंख्या इस विशाल पूँजी निर्माण का बोझ नहीं वहन कर सकती थी, न उसे उद्योगों में लगा सकती थी। अपने उत्पादन का कम्युनिस्ट - आधार पर बँटवारा करने पर भी यह सम्भव न होता।

जिस प्रकार विदेशों से प्राप्त शक्तिसे विशाल मात्रा में पूंजी-निर्माण हुआ है, उसी प्रकार पूंजीवाद के सामयिक संकटों का हल भी होता रहा है। यह कहना, कि औद्योगिक संकटों का कारण, किसी राष्ट्र का उत्पादन और क्रय-शक्ति का अन्तर होता है और नये आविष्कारों तथा अधिक मात्रा में पूँजी निर्माण के द्वारा ये संकट दूर होते हैं, अर्द्ध-सत्य और दिखावटी मात्र हैं। औद्योगिक संकट आंशिक रूप में आन्तरिक आयों के पूँजीवादी वितरण के अतिरिक्त, अधिक मात्रा में किसी पुराने साम्राज्यवादी शक्ति स्रोत के सूख जाने और नये स्रोत प्राप्त करने के बीच के समय के अन्तर के कारण आते रहे हैं। उत्पादन के पुराने तरीके से किसी खास साम्राज्यवादी क्षेत्र की शोषण-सीमा के समाप्त होने पर, आर्थिक संकट उत्पन्न होता है, जो किसी ऐसे नये क्षेत्र की खोज के उपरान्त समाप्त होता है, जहाँ नये आविष्कारों का प्रयोग किया जा सके।

अगर स्टिफेन्सन के भाप की इन्जन, या बेसेमर विधि और ऐसे अन्य आविष्कारों को बंगाल-विजय, स्वेज-नहर का खुलना और परिणामस्वरूप भारतीय कृषि के व्यवसायीकरण या अफ्रीका-विजय के साथमिलाकर देखा जाय, तो यह प्रमाणित हो जायगा, कि पुराने औपनिवेशिक क्षेत्रों के अपर्याप्त होने पर संकट उत्पन्न हुए और नयी राजनीतिक अथवा आर्थिक विजयों के बाद ही पूँजीवाद का स्वास्थ्य वापस लौट आया। पूंजीवादी संकटों के इस सिद्धान्त का शायद यह अर्थ भी हो, कि यूरोपीय उद्योग के समान विशाल-मात्रा में पूँजी-निर्माण समाजवादी दशाओं में भी साम्राज्यवादी शोषण के बिना असम्भव होगा। इस प्रश्न पर हम बाद में विचार करेंगे।

पूँजीवाद के लिए अपने प्रथम संकट और बाद के सामयिक संकटों से बचना इसी प्रकार सम्भव हुआ, क्योंकि; आन्तरिक क्रय-शक्ति, पूँजीवादी-उत्पादन के लिए, किसी भी दशा में काफी न होती। यही कारण है, कि सारे विश्व की विजय के उपरान्त नयी साम्राज्यवादी शक्ति के अस

म्भव हो जाने के कारण, पूंजीवाद स्थायी संकट की अवस्था में पहुँच गया है। इस अवस्था से यह किसी तरह नहीं निकल सकता। फलस्वरूप यह या तो टूट जायगा अथवा धन के निम्न स्तरों पर स्थायित्व प्राप्त कर लेगा। इस पर विस्तारपूर्वक विवेचन की आवश्यकता है।

औद्योगिक संकटों को, बहुधा, ब्याज की दर घटने या बढ़ने में, समझने की चेष्टा की जाती है। बाह्य दृष्टि से, यह सत्य है, कि संकट के समय पूँजी में लाभ बहुत कम होता है, अर्थात् ब्याज की दर बहुत कम होती है, जबकि तेजी के समय यह दर अधिक होती है। यह भी सत्य है, कि असाधारणतः नीची दर की एक अवधि के बाद, उत्पादन विधि में नये आविष्कार से पूँजी का लाभ बढ़ जाता है। पूँजी और श्रम में एक नया अनुपात स्थापित होता है। लेकिन यह औद्योगिक संकटों अथवा ब्याज की दर का केवल बाह्य रूप है। आगे चलने पर यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है, कि नये आविष्कारों से उत्पादन या लागत कम होती है और वस्तुओं के मूल्य घटते हैं। जनसंख्या में वृद्धि होने के कारण पूँजीपतियों को मुनाफा अधिक मिलता है और इस प्रकार पुनः संतुलन स्थापित हो जाता है। पर यह उत्तर भी पूरा नहीं है। तेजी लानेवाले आविष्कारों के प्रयोग तथा उसके फलस्वरूप उत्पादन की लागत में कमी, व्यापार या पूँजी लगाने के लिए बड़ी जनसंख्यावाली नयी वैदेशिक मंडियों के खुलने से ही सम्भव होती थी। इसी से पूँजीवादी मुनाफे और सन्तुलन पुनः स्थापित होते थे और नये सन्तुलन में ब्याज की दर कम होती थी। इस तरह नूतन स्वास्थ्य निर्माण की सम्भावना के अब समाप्त हो जाने से, पूँजीवाद के सामने सूद या ऋण ब्याज पाने की समस्या उठ खड़ी हुई है। पूँजी के सामने उसका अन्त खड़ा है। पूँजीवाद के स्थायी संकट की यही समस्या है।

जबकि पूँजीवाद ने स्वयं अपने देशों में सामयिक संकटों से होकर प्रगति की है, उपनिवेशों में उसने भयानक धनहीनता और बढ़ती हुई गरीबी

भी उत्पन्न की है। जनसंख्या में भूमिहीनों और भूखे मरते हुए खेतिहर मजदूरों की संख्या बढ़ती गई है। पूंजीवाद की गत्यात्मक शक्ति को समझने में अपनी बुनियादी गलती के कारण, मार्क्सवादी साम्राज्यवादी श्रमिकों में गरीबी बढ़ने की आशा करते रहे, जबकि उन्हें यह बात औपनिवेशिक श्रम में देखनी चाहिए थी। पूंजीवादी विकास का इतिहास औपनिवेशिक जनता की बढ़ती हुई गरीबी तथा भूखे मरते हुए भूमिहीन मजदूरों में उसके परिवर्त्तन का इतिहास है।

भारतीय कृषि में भूमिहीन मजदूरों का अनुपात पिछली सदी के अन्त में, १००० में २०० से बढ़कर लगभग १००० में ४०० हो गया है। कृषि के व्यवसायीकरण का यह सबसे महत्वपूर्ण परिणाम है। फिर भी लोग इस तरह की बातें कर सकते हैं, कि व्यवसायिक कृषि से देश का धन बढ़ा है। इतनी बड़ी जनसंख्या से किसी विदेशी अर्थतन्त्र अथवा अपने एक अंग को प्राप्त होनेवाले प्रचुर रक्त-प्रवाह का ऐसा अन्य उदाहरण मिलना कठिन है। इससे लाभ उठानेवाले ही, उन लोगों के धन बढ़ने की बात कर सकते हैं, जिनसे यह रक्त प्राप्त होता है। किसी भारतीय या अन्य उपनिवेश निवासी का, तोते की तरह इस मार्क्सवादी सिद्धान्त को रटना, कि पूंजीवाद किसी समय प्रगतिशील था, किन्तु अब नहीं, उसके बुद्धि-ह्रास का अद्वितीय उदाहरण है। औपनिवेशिक जनता के लिये पूंजीवाद कभी भी प्रगतिशील नहीं रहा। इससे उनका आर्थिक और आध्यात्मिक पतन ही निरन्तर हुआ है। अगर कोई ऐतिहासिक दृष्टि और सहानुभूति रखनेवाला व्यक्ति 'भारत में औपनिवेशिक श्रम का इतिहास' लिख सके, तो न केवल इससे ज्ञान में वृद्धि होगी, वरन् वह पुस्तक एक रोमांचकारी उपन्यास सी प्रतीत होगी। ऐसे इतिहास के लिए शायद फिजी और ट्रिनिडाड जैसे दूर स्थान में शर्तबन्द कुली भेजने के कागज में सामग्री खोजनी पड़े। विभिन्न अंग्रेजी कमीशनों और उनकी रिपोर्टों को देखना पड़े। पुरानी बजटों और मूल्यों

को देखना हो। आंशिक रूप में ऐसे व्यक्तियों की गवाही से भी सामग्री जुटानी हो, जो हमारी आँखों के सामने ही ठठरियों में बदल रहे हों। इसमें निश्चय ही एक सम्पूर्ण जीवन लग सकता है, किन्तु यह होगी एक महान कृति। ऐसा इतिहास बतायेगा, कि हेस्टिंग्ज द्वारा बंगाल की जमीनों को बार-बार नीलाम किया जाना, कारीगरों को तेजी से भूमिहीन मजदूर बना दिया जाना, नमक और तेल के लिये दुखितों की पुकार, अपने पानी से भरे खेतों और अपनी कृति को बार-बार निराश नजरों से देखते हुए मजदूरों का रेलों और सड़कों पर काम, सुन्दर स्त्रियों का शीघ्र ही झुर्रियों और कुरूपता में परिवर्तन, किसी अलभ्य-कली का जमींदार के बेटे या नील साहब द्वारा तोड़ा जाना और मसल कर फेंक दिया जाना, कभी-कभी विद्रोह, टूटे पुराने जहाजों पर या हजारों मील दूर बलात् ले जाये गये गुलामों की पीड़ा और निराशा, जूट और चाय का आगमन, और उनके साथ स्वेज नहर, अन्न के लिए दर्दभरी पुकार, अकाल, दबी हुई आहें, नंगेपन पर लंगौटी की आश्चर्यजनक जीत, विदेशों में बड़े-बड़े कारखानों और कलकत्ता-बम्बई जैसे शहरों में उनके छोटे प्रतिरूप की पृष्ठभूमि आदि; ये सब कैसे हुए? ऐसे इतिहास में मिलेंगे—"इन सबों में लुप्त होते हुए भोजन-वस्त्र तथा जात-पांत के विष और पल्टू जैसे भगतों की कहानी; जिन्होंने परमात्मा में मिलने वाले अन्तिम सुख का वर्णन किया है।

पूंजीवाद में औपनिवेशिक जनता की सब से अधिक बर्बादी हुई है। वर्ग संघर्ष के सिद्धांत को सही मानने पर भी, उसका आधार बदलने की आवश्यकता स्पष्ट है। पूंजीवाद की कब्र खोदनेवाले, मुख्यतः पूंजीवादी देशों के मजदूर नहीं, बल्कि उपनिवेशों की जनता है। साम्राज्यवादी मजदूर पूंजीवाद का नाश करने में, अधिक से अधिक औपनिवेशिक मजदूरों के मित्र हो सकते हैं। औपनिवेशिक मेहनतकशों को एक वर्ग मानना असम्भव होने के सम्बन्ध में मार्क्सवादी चाहे जो कुछ कहें; समुदाय, राज-

नीतिक-चेतना, और राष्ट्रिय संगठन की मार्क्सवादी कसौटियों के अनुसार भी पूंजीवादी देशों के श्रमिक वर्ग की अपेक्षा औपनिवेशिक मेहनतकशों को एक ही वर्ग मानना अधिक उचित है। औपनिवेशिक मजदूरों का वर्ग पूँजीवाद के जन्म से ही उसे अपना जीवन-रक्त देता रहा है, विभिन्न अवधियों में उसका पोषण करता है और स्वयं निरन्तर गरीब होता जाता है, जिससे कि उसके अपने नाश से पूंजीवाद का ह्रास होना प्रारम्भ होता है और उसके सोद्देश्य उत्थान और पौरुष-जागरण से एक नये युग का जन्म होता है। औपनिवेशिक मजदूर अपने कार्य अच्छी तरह करेंगे या बुरी तरह, पतन की अवस्था में पड़े रहेंगे या उठेंगे, इस पर विचार पूंजीवाद के नवीनतम विकास के अन्तर्गत किया जायगा। इस स्थान पर इतना ही कहना काफी है, कि पूँजीवाद का भविष्य पूंजीवादी देशों के मजदूरों के व्यवहार पर उतना निर्भर नहीं है, जितना औपनिवेशिक मजदूरों के व्यवहार पर। पूँजीवाद के भविष्य का अध्ययन करनेवाले को अपनी आँखें मुख्यतः औपनिवेशिक मजदूरों के राजनीतिक कार्य पर रखनी होगी।

रूसी-क्रान्ति वर्ग-संघर्ष के इस सिद्धान्त के साथ बिल्कुल ठीक बैठ जाती है। जो विश्व अर्थतन्त्र के पूँजीवादी गुट का सदस्य नहीं था, किन्तु जो धीरे २ पश्चिम यूरोपियनों के बाहरी औपनिवेशिक घेरे में लाया जा रहा था; ऐसे एक देश के अर्द्ध-औपनिवेशिक मजदूरों में इतनी शक्ति थी, कि गुलामी की ओर ले जाने वाली विदेशी और देशी व्यवस्थाओं को उलट सके। पूँजीवादी जंजीर वहां टूट गयी, जहां औपनिवेशिक मजदूरों की कड़ी सबसे मजबूत थी। जो लोग पूंजीवादी जंजीर को फिर टूटते देखना चाहते हैं, वे उस ओर देखें, तो अच्छा होगा, जहाँ अब औपनिवेशिक मजदूरों का वर्ग सब से मजबूत है। इससे शायद, सचमुच एक नये विश्व का उदय हो, क्योंकि टूटने वाली कड़ी अर्द्ध औपनिवेशिक नहीं, पूर्णतः औपनिवेशिक है तथा पूँजीवाद के जीवन के लिए आवश्यक भी है।

पूँजीवाद के आधुनिकतम विकास पर विचार करने के पहले, हमें इस प्रश्न का उत्तर खोजें, कि मार्क्स ने स्वयं अपने ही अस्त्र का अपर्याप्त प्रयोग क्यों किया और पूँजीवाद को केवल पश्चिमी यूरोप के प्रसंग में क्यों देखा ? मार्क्सवादी रीति से, यह कहने का लोभ होता है, कि यूरोपीय अर्थ तन्त्र के अंग होने के कारण, वे यूरोपीय मजदूर वर्ग के हितों के आगे नहीं देख सके। सुधारक होने के नाते वे अस्पष्ट रीति से सारे विश्व की समृद्धि चाहते थे; किन्तु उसकी इस विश्व की आर्थिक और आध्यात्मिक उन्नति को निश्चयात्मक गति देने वाला केन्द्र, पश्चिमी यूरोप था। मार्क्स के विरोधियों का रुख देखने से यह विचार और भी दृढ़ हो जाता है। उन्होंने मार्क्स के सिद्धान्तों की आलोचना 'सीमान्तक उपयोगिता और उत्पादन की लागत आदि कई दृष्टियों से की है; किन्तु किसी ने तर्क के रूप में भी मार्क्स की इस गल्ती की ओर ध्यान नहीं दिया, कि उसने साम्राज्यवादी श्रम को ही पूंजीवादी कारखानों में मूल्य का एकमात्र उत्पादक माना है। पश्चिमी यूरोप के पूंजीवादी और कम्युनिस्ट, दोनों ने एक समान ही साम्राज्यवादी और औपनिवेशिक समूहों में श्रम के इस विभाजन और पूंजीवादी विकास के विभिन्न पहलुओं पर उसके प्रभाव के प्रति खामोशी बरती है। विचारों की इस साजिश को आर्थिक हितों का प्रतिबिम्ब कहने का लोभ हो सकता है किन्तु एशिया के समाजवादी भी इसमें शामिल रहे हैं, इससे यही प्रकट होता है, कि शायद विचारों के अपने ही नियम होते हैं और उनकी कमियों का कारण वर्ग शक्तियां अथवा आर्थिक हित ही हों यह आवश्यक नहीं है।

औपनिवेशिक विरोध से यूरोपीय पूँजीवाद के अस्तित्व को खतरा :—

पूँजीवाद के आधुनिक विकास का अध्ययन, इस शताब्दी के पहले दशक के बाद, पश्चिमी यूरोप के अर्थतन्त्र का विश्लेषण करके, किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कुछ दिनों पहले तक पश्चिमी यूरोप आसानी से

अधिक मानवता के भाग्य का निर्णय करता था और पूँजीवाद के विकास का मुख्य निर्णय कर्त्ता एवं पूँजीवाद के विकास का मुख्य निर्णायक भी था। इस अवधि में उसमें इतनी शक्ति भी थी, कि सारे विश्व को दो महायुद्धोंमें झोंक सके। पश्चिमी यूरोप के अर्थतन्त्र के अध्ययन में हमे अभी केवल आर्थिक घटनाओं को ही लेना है, क्योंकि मनुष्य के विचारों और उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन, जहाँ तक उनका कोई आर्थिक प्रभाव नहीं है, एक अन्य प्रसंग में किया जायगा।

इस अवधि में पश्चिमी यूरोप की आर्थिक गति, उद्योगों में अत्यधिक पूंजी लगने में और क्षेत्रीय दृष्टि से सीमित साम्राज्यवाद में नये पूँजीवादों के उदय में रही है। इस शताब्दी के पहले दशक तक, पश्चिमी यूरोप के उद्योगों में विशाल-औपनिवेशिक जन-संख्याओं और उनके देशों की उपलब्धि के आधार पर विशाल मात्रा में पूंजी-निर्माण हो रहा था। उसके चलने के लिये वर्त्तमान विश्व की आवश्यकता थी। इस वृद्धि का मार्ग अब बन्द हो गया है। कोई नया विश्व नहीं हैं, जहाँ की औपनिवेशिक जनता पश्चिमी यूरोप के पूँजीवाद को गत्यात्मक शक्ति दे सके। इसके विपरीत उपलब्ध क्षेत्रों से होनेवाले लाभ अब औपनिवेशिक जनता की बढ़ती हुई गरीबी, अवरोध और विरोध के कारण कम हो रहे हैं। इन सबोंने पश्चिमी यूरोप के पूँजीवाद का रुख ह्रास की ओर मोड़ दिया है। न केवल वह अपने विकास की चोटी पर पहुंच चुका है, जहाँ से प्रस्तार संभव नहीं है, बरन अपनी पूरी शक्ति का उपयोग करने में भी अब वह असमर्थ है। १९२९ के बाद की मंदी के ५ वर्षों की उत्पादन शक्ति का उपयोग केवल तीन चौथाई और कुछ उद्योगों में तो केवल आधा रह गया था। उद्योग की इस गिरती धारा के साथ ही विश्व व्यापार में कमी आई और बेकारी बढ़ी।

इस तरह पश्चिमी यूरोप के पूंजीवाद के अस्तित्व को तीन तरह के खतरे रहे हैं। औपनिवेशिक गरीबी का और विरोध का खतरा तथा आपसी

और गैर यूरोपीय क्षेत्रों की प्रतिद्वन्दिता का खतरा। अनिवार्य अन्त के निकट आते जाने के कारण ही शायद, पश्चिमी यूरोप, औपनिवेशिक गरीबी और विरोध के सबसे बड़े खतरे का सामना बिल्कुल ही नहीं कर सका। भय और विचारों की जड़ता के कारण उसकी विचारधारा पर पूंजी और श्रम के आन्तरिक संघर्ष का ही अधिक प्रभाव रहा है। किन्तु कार्य रूप में जिस खतरे ने पूंजीवाद को अधिक सक्रिय बनाया और जिसके परिणाम सब से अधिक महत्वपूर्ण हुए, वह आपसी प्रतिद्वन्दिता का खतरा था, एक पीढ़ी के अन्दर ही दो बार युद्ध के द्वारा अपने सदस्यों की संख्या घटा कर, उसने यह खतरा दूर करने की चेष्टा की। उत्पादन-शक्ति और विश्व-व्यापार में कमी तथा बेकारी में वृद्धि के आगमन ने युद्ध-उद्योगों और युद्ध में वृद्धि की।

इस अवधि में दो युद्धों के पीछे, जहाँ तक आर्थिक प्रश्नों का संबंध है, उत्पादन-शक्तियों का संघर्ष है; यह सत्य है, कि जबतक एक पूंजी वादी ढांचे की उत्पादन-शक्ति कम न हो, तबतक दूसरे की उत्पादन-शक्ति का पूरा उपयोग नहीं हो सकता। इस संघर्ष के ऊपर बहुत से सांस्कृतिक प्रश्नों का आवरण भी आ जाता है, तथा संकुचित हितों से लेकर लोकतन्त्र की रक्षा तक, हरप्रकार के कारण से व्यक्ति, तथा राष्ट्रिय स्वतन्त्रता के हित से राष्ट्र युद्ध में खिंच आते हैं। सुदूर भविष्य में इन सब कारणों का भी शायद महत्व है। कुछ का तो आर्थिक महत्व भी है और हम पश्चिमी यूरोप पर उनके प्रभाव का अध्ययन करेंगे। किन्तु आर्थिक कारणों और परिणाम दोनों ही दृष्टियों से ये युद्ध मुख्यतः उत्पादन शक्तियों के युद्ध हैं। दोनों विश्व युद्धों में सबसे बड़ा आर्थिक अन्तर यही है, कि १९१४ का युद्ध पूर्णतः पश्चिमी यूरोप का युद्ध था, जबकि १९३९ के युद्ध में पश्चिमी यूरोप का स्थान प्रशान्त महासागर से कुछ ही अधिक था। इसका चाहे और जो भी अर्थ हो, इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है, कि आर्थिक शक्ति और उसमें गड़बड़ी का क्षेत्र बदल रहे हैं और यूरोप इतिहास में पीछे हट रहा है।

यह प्रत्यागमन, दो युद्धों में हुए विनाश के कारण नहीं है। युद्ध के द्वारा किसी शक्तिशाली देश में प्रत्यक्ष विनाश शायद ही कभी ऐसा होता है, कि उसे किसी वस्तु के द्वारा पूरा न किया जा सके। शायद ही कभी मृत्यु संख्या, चाहे वह कितनी भी अधिक हो, जन्म संख्या से अधिक होती हो। इसलिए, कि युगदलों के बीच के अनुपात के सम्बन्ध के अतिरिक्त, पश्चिमी यूरोप की आबादी के संख्या-बल पर युद्ध का प्रभाव कम ही पड़ता है। इस प्रकार जल, थल और वायु द्वारा जो भी विनाश हो, युद्ध काल में पश्चिमी यूरोप की उत्पादन-शक्ति बढ़ती ही जाती है और युद्ध के अन्त में, आरम्भ काल की अपेक्षा पश्चिमी यूरोप के देशों की उत्पादन शक्ति कुछ दिशाओं में अधिक ही होती है। संभव है, कि १९३९ के युद्ध से बड़ा विनाश हो, किन्तु अगर अन्तिम कारखानों तक युद्ध न चलाया गया, तो पश्चिमी यूरोप के पूंजीवादी देशों की उत्पादन-शक्ति में कोई खास कमी न आयेगी। युद्ध के कारण उत्पन्न विनाश नहीं, वरन् युद्ध के बाद की असमर्थता जनशक्ति का ह्रास करती है। जनता की नैतिकता का प्रश्न ही दूसरा है। यह कुछ कहा ही नहीं जा सकता है, कि पुनरावृत्ति के परिणाम स्वरूप पुनः युद्ध के लायक सबलता प्राप्त करने वाले जर्मन का उदाहरण, किस राष्ट्र के लिए इस प्रकार की धारणा को सर्वथा कठिन कर देता है। संयम के साथ ऐसा कहा जा सकता है, कि पुनरावृत्ति और दीर्घकालीन युद्ध किसी अवस्था में, राष्ट्र को इस जीवन के आकर्षण से परलोक के सुख की ओर मोड़ दे। फिर भी जनता की नैतिकता को अज्ञात अनिश्चित तत्व के रूप में ही मानना अच्छा है।

युद्ध जनित विनाश नहीं, बल्कि युद्ध के कारण होनेवाले परिवर्तन की वजह से पश्चिमी यूरोप इतिहास में पीछे की ओर पैर रख रहा है, युद्ध की आवश्यकताएं विश्व के महान राष्ट्रों की उत्पादन-शक्तियों और उनके व्यवहार के अनुपात में ऐसी गड़बड़ी उत्पन्न करती है, कि महाद्वीप और गोलार्द्ध एक दूसरे के खर्च पर लाभ और हानि उठाते हैं। १९३९ के युद्ध का

अन्त, सम्भवतः १९१४ के युद्ध की अपेक्षा, महत्तर गड़बड़ी प्राप्त करेगा।

१९१४ के युद्ध के प्रारम्भ में विश्व की सात महान शक्तियों का अनुपात, यूरोप के पक्ष में ५ : २ का था। पांच यूरोपीय शक्तियों में पश्चिमी यूरोप के तीन देश ; इंगलैंड, जर्मनी और फ्रांस, अपने विपरीत अर्थशास्त्र और अपनी उत्पादन-शक्तियों के दृष्टिकोण से वस्तुतः महान शक्तियां थे, जबकि पूर्वी यूरोप की दो शक्तियों में जार का रूस इन महान शक्तियों की अपेक्षा कुछ न्यून सा था और आस्ट्रिया का साम्राज्य तो केवल नाम का ही वैसा था। १९१४ के युद्ध के अन्त ने विश्व अनुपात में कोई स्पष्ट परिवर्तन तो नहीं दिखाया, पर इतना अवश्य हुआ, कि आस्ट्रिया द्वारा किए जानेवाल बड़े कार्य नाम के लिए इटली के द्वारा ले लिए गए, जबकि रूस ने महान शक्ति बनने की दिशा में प्रयत्न करना प्रारम्भ कर दिया था। पर विश्व अनुपात में मालूम होनेवाले इस स्थायित्व के पीछे, एक भारी परिवर्तन हो चुका था। गैर-यूरोपीय दो शक्तियाँ—अमेरिका और जापान—इस शीघ्रता से अपनी उत्पादन-क्षमता और प्रभाव विस्तारित कर रही थीं, कि उनमें से एक तो अपने को विश्व की महान शक्ति बनाने में लगी थी, जबकि दूसरी भी शक्ति का अच्छा संचय कर रही थी। १९३९ के युद्ध के प्रारम्भ में, विश्व-शक्तियों का अनुपात, पहले की ही तरह यूरोप के पक्ष में ५ : २ कायम रखा गया था, पर वस्तुतः वास्तविक शक्ति का माप, अनुपात ३ : २ के द्वारा ही उत्तम होता। १९३९ के युद्ध की प्रगति में इटली को इस बुरी तरह पछाड़ दिया गया, कि शान्ति-काल में उसके लिए यह फिर सम्भव ही नहीं हो सकता है, कि वह अपने को महान शक्ति बनाने का दावा कर सके। अपनी हार और अन्य कारणों से फ्रांस सम्भवतः अपनी उत्पादन-शक्ति और विश्व-शक्ति के रूप में अपना स्थान फिर न प्राप्त कर सकेगा। इस युद्ध का अन्त जैसे भी हो और जो भी परिवर्त्तन हों, शेष दो बड़ी शक्तियों के विरुद्ध यूरोप में भी

दो ही बड़ी शक्तियाँ रह जायंगी। अगर सोवियत रूस भी उनमें से एक हुआ, तो वह विश्व राजनीति में तो हस्तक्षेप करता रहेगा, किन्तु कुछ समय तक स्वयं व्यापार और पूँजी लगाने में उसके हस्तक्षेप की सम्भावना तो है ही नहीं। इस प्रकार यूरोप में केवल एक ही बड़ी शक्ति ऐसी रह जाती है, जिसकी उत्पादन शक्ति का पूँजीवाद के भविष्य पर कोई प्रभाव होगा। यह शक्ति जो भी हो, यह अपने पश्चिमी यूरोप के अन्य प्रतिद्वन्द्वियों को युद्ध में पराजित ही नहीं कर चुका होगा, बल्कि यह भी सावधानी से देखना चाहेगा, कि युद्ध के अन्त में पराजित शत्रु की न केवल सैनिक-संभावनाएँ ही अपितु इससे भी अधिक औद्योगिक संभावनाएं नष्ट हो जांय। विश्व-व्यापार में यूरोप के भाग पर इसका प्रभाव आसानी से समझ लेना कठिन नहीं है। परस्पर प्रतिद्वन्द्विता रखते हुए भी पश्चिमी यूरोप के पूँजीवाद विश्व-व्यापार पर अपने प्रभुत्व को रखने में समर्थ थे। विश्व-व्यापार का ५१ प्रतिशत यूरोप के अधीन था। इंगलैंड, जर्मनी और फ्रांस का हिस्सा विश्वव्यापार में ३५ फी सदी था। १९३९ के युद्ध के पहले पश्चिमी यूरोप निस्सन्देह विश्व का आर्थिक केन्द्र और इसलिए विश्वका सैनिक और राजनीतिक केन्द्र भी था। यह स्थिति ऐसी इसलिए नहीं है, कि केवल पश्चिमी यूरोप की एक शक्ति ने अपनी उत्पादन शक्ति एकदम खो दी है और एक दूसरी निश्चित रूप से उसका अनुगमन करेगी, बल्कि अमेरिका का गोलार्द्ध उन्नत हो रहा है। युद्ध के बीच भी सं० रा० अमरीका की उत्पादन शक्ति बढ़ती गई है, जैसा कि वायुयान उत्पादन के विशाल कार्यक्रम और हेनरी केसर के 'एक दिन में एक जलयान' से प्रकट है। यह बढी हुई उत्पादन शक्ति अभी ही विश्व व्यापार, वायु यातायात और तेल इत्यादि में अनुरूप स्थिति प्राप्त करने की चेष्टा कर रही है। इसके अतिरिक्त सं० रा० अमेरिका का आर्थिक ढांचा अपनी आन्तरिक गत्यात्मक शक्ति का प्रयोग कर चुका है और उसे बढ़े हुए विश्व-व्यापार

का सहारा लेना पड़ेगा। यूरोप और अमेरिका के बीच, युद्ध के पहले विश्व व्यापार में जो यूरोप के पक्ष में ५१ और २३ प्रतिशत का अनुपात था, वह युद्धोत्तर काल में सम्भवतः अमेरिका के पक्ष में उलट जाय; भले ही शायद वह अविलम्ब उतनी दूर तक न जाय। साथ ही साथ विश्व-व्यापार में एशिया की स्थिति में भी शायद कुछ सुधार हो। अगर जापान युद्ध में हार जाता है, तो उसकी उत्पादन-शक्ति न्यूनाधिक मात्रा में चीन को मिलेगी और इस प्रकार एशिया में, कम से कम एक बड़ी शक्ति होगी। अन्य कई आर्थिक और राजनीतिक आन्दोलन भी प्रौढ़ हो रहे हैं, जिनका पथ दूर सीमा तक एशिया के विकास को निर्धारित करेगा। युद्धके पूर्व विश्व-व्यापार में एशिया का भाग १४ प्रतिशत था और उसमें अधिक सुधार होता है या नहीं; यह गैर-आर्थिक और अज्ञात शक्तियों पर बहुत अधिक निर्भर है। विश्व अर्थ-तन्त्र में इन बड़े क्षेत्रीय परिवर्तनों का पूँजीवाद के भविष्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इस प्रश्न पर कुछ सीमा तक अन्य कहीं विचार किया जायगा। महत्व की खोज करने के पहले हम इसके अस्तित्व को समझें। अभी इतना कहना काफी है, कि विश्व अर्थतन्त्र में महान क्षेत्रीय परिवर्तन हो रहे हैं।

आपसी प्रतिद्वन्दिता का खतरा दूर करने की चेष्टा में पूँजीवाद और अधिक खतरा उत्पन्न कर लेता है। औपनिवेशिक गरीबी और विरोध का बढ़ता हुआ खतरा, गैर यूरोपीय क्षेत्रों की प्रतिद्वन्दिता, तथा आन्तरिक अव्यवस्था पश्चिमी यूरोप के पूँजीवादी देशों को मजबूर कर रही हैं, कि युद्धों के द्वारा वे मानव इतिहास में अपना महत्व खोते जांय।

पश्चिमी यूरोप की जनसंख्या में वृद्धि की पुरानी रफ्तार खतम हो गई। कुछ की जनसंख्या स्थिर है, कुछ की बहुत धीरे धीरे बढ़ रही है और ऐसा प्रकट हो रहा है, कि शताब्दी के अन्त तक सभी जनसंख्या में कमी होने का अनुमान सही है। जनसंख्या में कमी होने का यह अर्थ आवश्यक नहीं, कि युद्ध करने अथवा औपनिवेशिक अर्थतन्त्रों

पर प्रभुत्व रखने की शक्ति भी कम हो रही है। जनसंख्या में कमी की हानि कारीगरी के विकास से हो सकती है। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, क्योंकि गैर यूरोपीय स्वतन्त्र अर्थतन्त्र भी, अगर अधिक नहीं, तो उतना ही विकसित है, जितना कि यूरोपीय और यह भी सत्य प्रतीत होता है, कि पूँजीवाद में स्थिर या घटती हुई जनसंख्या के साथ सांस्कृतिक और वैज्ञानिक गतिरोध भी हो जाता है। सांस्कृतिक गतिरोध और घटती हुई जनसंख्या का ठीक-ठीक सम्बन्ध निश्चित करना कठिन है, सिवाय इसके, कि जन्म संख्या के घटने के कारण पूँजीवाद की एक आन्तरिक महत्वपूर्ण गत्यात्मक शक्ति खतम होती है और इसके कारण बाह्य-शक्ति-स्रोत भी नियन्त्रण से बाहर हो जाते हैं।

१९ वीं शताब्दी में यूरोप की जनसंख्या लगभग तिगुनी हो गई। इसके अतिरिक्त बहुत से अकिंचन अमेरिका चले गये। ब्रिटेन की जनसंख्या चौगुनी हो गई, जर्मनी की तिगुनी और फ्रांस की दुगुनी से अधिक। ये बढ़ी जनसंख्यायें पूँजीवाद के औद्योगिक संकट दूर करने में सहायक हुई थीं क्योंकि इसके द्वारा विस्तृत बाजार मिला था और भारी पूँजीवाद के लिए जनशक्ति। पिछले दो दशकों से फ्रांस की जनसंख्या स्थिर है। जर्मनी ने जानबूझकर जनसंख्या की कमी दूर करने का प्रयत्न किया; जो सफल हुआ। इससे प्रतीत होता है, कि २० वीं शताब्दी के अन्त में ब्रिटेन की जनसंख्या आज के साढ़े चार करोड़ की जगह ढाई करोड़ और जर्मनी की साढ़े तीन करोड़ रह जाने का अनुमान निराधार नहीं है। एक अंग्रेज उपन्यासकार (गालसवर्दी) के इस कथनमें सचाई है, जो फोरसाइट परिवारके सम्बन्धमें सुझाव के रूप में है; "संख्या ब्याज की दर के अनुरूप होती है। ब्याज की गिरती हुई दर शून्य के नीचे चली जाय; इसकी आशंका है और इसके अनुरूप जनसंख्या को घटने से रोकना भी सम्भव नहीं प्रतीत होता।" किन्तु जनसंख्या में तो कमी का स्वयंमेव यह अर्थ नहीं, कि औपनिवेशिक जनता पर पश्चिमी यूरोप की आर्थिक शक्ति घट रही है। अब भी प्रयुक्त अश्व शक्ति

के हिसाब से जर्मनी और ब्रिटेन की जनसंख्या भारत से कहीं अधिक है। आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के वर्त्तमान रूपों के निर्धारण में अश्व शक्ति का बड़ा हाथ होता है। फिर भी ब्रिटेन और जर्मनी की अश्व-शक्ति में केन्द्रीकरण की प्रणाली के सम्बन्ध में सावधानी रखने की आवश्यकता है, क्योंकि वहां की जनसंख्या की कमी के कारणों में यह भी एक कारण है। अगर वर्तमान युग केन्द्रित अश्वशक्ति का युग रहा है, तो आनेवाला युग बिखरी हुई, और शायद बढ़ी हुई अश्व शक्ति का युग होगा।

पश्चिमी यूरोप में आविष्कारिता भी घट रही है। विद्युत और पेट्रोल की इन्जनों के महत्व के बढ़ते जाने से, प्रायौगिक विज्ञान में यूरोप का नेतृत्व अब वैसा नहीं है, जैसा भाप और लोहे के जमाने में था। जर्मनी में इसके लिये साहसपूर्ण प्रयत्न किये गये हैं, कि जो कुछ प्राकृतिक रीति से उपलब्ध न हो, उसे कृत्रिम रीति से बनाया जाय। यह एक अलग आर्थिक ढांचे के लिये मूल्यवान है, किन्तु विश्व के आर्थिक इतिहास का निर्णायक नहीं। इसे पश्चिमी यूरोप के ह्रास में विलम्ब करने का एक वीरतापूर्ण प्रयत्न कहा जा सकता है। यह कहना कठिन है, कि ध्वनि-संचालित टारपीडो, रेडियो संचालित बम और अन्य ऐसे अस्त्र यूरोप की जीवित वैज्ञानिक शक्ति के प्रमाण हैं, अथवा पुराने ज्ञान के ही फल हैं। शायद अब भी यूरोप छोटी-छोटी मशीनों के विज्ञान या अल्प शक्ति की विद्युत् का नेतृत्व करे। युद्ध के पहले ही अमेरिका विद्युत् इन्जीनियरिंग के उद्योगों में प्रवीण था और वहाँ यह नवीन विद्युत् विज्ञान बड़ी प्रगति कर रहा है। चूंकि, एशिया के देशों पर पुराने ढंग के बड़े पूंजीवाद का बोझ नहीं है, अतः कोई कारण नहीं प्रतीत होता, कि एशिया के वैज्ञानिक बिजली और प्लास्टिक आदि की बिखरी हुई विधियों के विज्ञानों का नेतृत्व न करें। किन्तु उन्होंने अभी तक काफी वैज्ञानिक शक्ति प्रदर्शित नहीं की है और औद्योगिक विज्ञानों में यूरोपीय विधियों की नकल करने में ही लगे रहे हैं। इन सबों से एक बात पर कोई प्रभाव

नहीं पड़ना चाहिए, कि विज्ञान की उच्चतम शाखा, गणित सम्बन्धी भौतिक शास्त्र में पश्चिमी यूरोप अब भी विश्व का नेता है।

अन्य किसी कारण की अपेक्षा, औपनिवेशिक गरीबी और विरोध, पश्चिमी यूरोप के आर्थिक ढांचे में अधिक दृढ़ संकोच उत्पन्न कर रहे हैं। पीकिंग से कलकत्ता और बम्बई होते हुए काहिरा तक, कम-से-कम उपभोग की वस्तुओं में राष्ट्रियता, कार्य का मुख्य श्रोत, बन रही है। नगरवासियों के एक छोटे फैशनपरस्त वर्ग के अतिरिक्त लोग वस्तुओं के गुण और मूल्य की अपेक्षा इस बात में अधिक दिलचस्पी दिखा रहे हैं, कि वह वस्तु कहाँ बनी हैं। यह भावना समय के साथ सम्भवतः बढ़ती और दृढ़ होती जायगी और इसका प्रभाव, लंकाशायर और लियोन्स की स्थायी मन्दी में, अभी भी दिखाई पड़ रहा है। साथ ही औपनिवेशिक विरोध का, पश्चिमी यूरोप के मशीन उद्योग और पूँजी लगाने पर, कोई विशेष प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। मेक्सिको के अतिरिक्त, जहाँ ईगिल आयल कम्पनी नामक तेल का कारखाना जब्त कर लिया गया था, अन्य स्थानों में—उदाहरणार्थ ईरान में—इस तरह के प्रयत्नों का कोई फल नहीं हुआ। उपनिवेशों में मशीनें या मशीन के हिस्से बनाने के कारखाने भी नहीं बने, जिससे, कि पश्चिमी यूरोप की बनी हुई मशीनों का प्रयोग वस्तु के उत्पादन में कम हो। अतः औपनिवेशिक विरोध का जहाँ उपभोग की वस्तुओं के पश्चिमी यूरोपीय उद्योग पर बड़ा प्रभाव पड़ा है, वहाँ उत्पादक के मशीन उद्योग पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा। औपनिवेशिक जनता गुलामी की अवस्था में भी उपभोग की वस्तुएं कहाँ से आती हैं, इसका निर्णय कर सकती है, लेकिन उत्पादकों की मशीनों के बारे में ऐसा नहीं कर सकती, क्योंकि वर्त्तमान विधि के अनुसार पूँजी-निर्माण इतनी बड़ी मात्रा में आवश्यक होता है, कि पूंजी की मंडी विदेशी सरकार और देशी पूंजीपतियों में ही सीमित रहती है; कारण, राष्ट्रिय भावनाओं और हितों की अपेक्षा खतरे, मूल्य और गैरराष्ट्रिय भावनाओं का प्रभाव ही अधिक

रहता है। उदाहरणार्थ भारत के इंजन के कारखाने ३० वर्षों की बातचीत के बाद भी मरम्मत के कारखाने ही हैं और इंजन मोटर बनाने के कारखाने बनने की सम्भावना नहीं है। किन्तु मशीन उद्योगों में राजनीतिक आन्दोलनों की सफलता के बाद आर्थिक गति आती है। अतः, इस समय नहीं कहा जा सकता, कि कितने शीघ्र या कितनी देर से, औपनिवेशिक विरोध पश्चिमी यूरोप के मशीन-उद्योग को प्रभावित करेगा। यह भी कह दिया जाय, कि अमेरिका और ब्रिटेन की तेल-कम्पनियां को मेक्सिको में कुछ मुआवजा देकर जो जब्त किया गया; वह मेक्सिको की राष्ट्रिय शक्ति का परिणाम तो था ही, अमेरिका के कुछ प्रभावशाली हितों के रुख से भी उसे सुविधा मिली थी।

सजग विरोध से कहीं अधिक, औपनिवेशिक जनता की बढ़ती हुई गरीबी के कारण पश्चिमी यूरोपीय अर्थतन्त्र में दृढ़ता और संकोच आ रहे हैं। कुछ क्षेत्रों में कई दशकों और कुछ क्षेत्रों में एक शताब्दी से भी अधिक से बार-बार नगर-गांव का सम्बन्ध रखने के कारण, औपनिवेशिक जनता में अब इतनी शक्ति नहीं है, कि पूंजीवादी अर्थतन्त्रों को जीवन-दान दे सके। वे अब भी पश्चिमी यूरोप के अन्तिम पतन को कुछ समय के लिये रेलों, सार्वजनिक कार्यों और उपभोग की वस्तुओं की मांग के द्वारा रोक सकती है, किन्तु यह मांग भी घट रही है। अगर वर्त्तमान आर्थिक दिशाएं बदल नहीं जातीं, जिसकी सम्भावना कम ही है, तो पश्चिमी यूरोपीय अर्थतन्त्र के नाश के लिए औपनिवेशिक जनता की बढ़ती हुई गरीबी ही सबसे बड़ा अकेला कारण बनेगी।

उत्पादन शक्ति के प्रयोग के क्षेत्रों में बदलाव, घटती हुई जनसंख्या एवं अविष्कार शक्ति और उपनिवेशों की गरीबी तथा विरोध मानव-जाति के मामलों में यूरोप को पीछे ढकेलते जा रहे हैं।

पूँजीवाद युद्ध और ह्रास रोकने में असमर्थ—

अब हम देखें कि क्या यूरोप के सोद्देश्य प्रयत्न ऐसे हैं, कि इस प्रत्यागमन को रोक सकें? हम यहाँ केवल उन्हीं प्रयत्नों को देखेंगे, जिनका कुछ निश्चित आर्थिक परिणाम हो : उद्देश्य और लक्ष्य, नैतिक मूल्य, गलतियां और क्या करना चाहिये, आदि प्रश्नों पर इतिहास की सामान्य समस्या के प्रसंग में, विचार किया जायगा।

आपने सबसे बड़े खतरे के सम्बन्ध में, औपनिवेशिक गरीबी और विरोध बढ़ते जाने पर यूरोप के प्रयत्न आर्थिक से अधिक राजनीतिक ही रहे हैं। इस रुझान के बढ़ने की ही सम्भावना है, न केवल इसलिये, कि औपनिवेशिक विरोध प्रतिदिन क्रियाशील हो रहा है, बल्कि इस कारण भी, कि औपनिवेशिक गरीबी की समस्या इतनी कठिन है, कि पश्चिमी यूरोप उसका आर्थिक हल नहीं कर सकता। अब उपनिवेशों में घटनाएँ पूँजीवादी कार्य की प्रतीक्षा नहीं करतीं और पूँजीवाद को बहुधा उनके विरुद्ध कार्य करना होता है, जिससे वह आम तौर पर पीछे ही रह जाता है। यूरोपीय पूँजीवाद उपनिवेशों में पूँजीवाद के विकास से और भी डरता है, क्योंकि उसमें ऐसी वैज्ञानिक विधि कौशल की शक्ति और भी कम है, जो उपनिवेशों का धन बढ़ाने के साथ उनके अपने अर्थतन्त्र को भी बल दे। पश्चिमी यूरोप का उपनिवेशों में मुख्य कार्य विकास नहीं, बचाव ही बन गया है। नगर-गाँव सम्बन्ध जितनी बार दुहराया जायगा, बचाई जानेवाली वस्तु उतनी ही घटेगी और उपनिवेशों के आर्थिक ह्रास के साथ पश्चिमी यूरोप के पूँजीवाद का ह्रास होगा। पिछले दिनों उपनिवेशों में यूरोपीय कार्यवाहियों का आर्थिक परिणाम बहुत कम ही हुआ है। उदाहरण के लिए हाल में सिन्ध, पंजाब और राजपूताना में नहरों पर किया गया व्यय अपने आप में तो काफी बड़ा था, किन्तु उससे भारत या ब्रिटेन के अर्थतन्त्र को गत्यात्मक शक्ति

नहीं मिली। अगर कृषि के उत्पादन में कोई वृद्धि होती है, तो वह आवपाश की दर अर्थात् सरकारी नहरों पर लगी पूँजी के ब्याज और लाभ को ही पूरा कर सकी या फिर वह लाभ बड़े भूमिपतियों के एक छोटे से वर्ग के हाथ में चला जाता है, जिसका उत्पादन में फिर कोई उपयोग नहीं होता। इसके साथ ही उपनिवेशों में पश्चिमी यूरोप की कार्यवाही अधिकाधिक विलासिता का रूप धारण कर रही है। उदाहरणतः, बम्बई में बैकवे रिक्लेमेशन, हावड़ा का नया पुल, टैंगानिका में शिकार के क्षेत्र और कीनिया के हाईलैंड्स आदि। इनसे पश्चिमी यूरोपियों और कुछ देशी धनिकों के जीवन अधिक सुख-सौंदर्य पूर्ण हो सकते हैं। वे कुछ समय के लिये यूरोप के इंजीनियरिंग उद्योगों को कायम रखने में भी सहायक हो सकते हैं, किन्तु पूँजीवादी या औपनिवेशिक अर्थतन्त्रों को पुनः जीवित करने में वे पूर्णतः असमर्थ हैं। पश्चिमी यूरोप की आर्थिक कार्यवाहियों के स्वरूप परिवर्तन की कोई सम्भावना भी नहीं है। हाल की धाराओं से यह प्रकट होता है, कि सार्वजनिक कार्य, यातायात और कृषि के यन्त्रीकरण की ओर पश्चिमी यूरोप का झुकाव जारी रहेगा। इनका राजनीतिक या प्रचारात्मक महत्व चाहे जो हो, सड़क-नहर बनाने और कृषि में बिजली का उपयोग करने आदि के ये कार्य, उपनिवेशों के आर्थिक ढाँचे को पुनः जीवित नहीं कर सकते और इन्जिनियरिंग उद्योगों की कुछ मांग बढ़ाने के अतिरिक्त पूँजीवाद की कोई विशेष सहायता भी नहीं कर सकते। जबतक कि औपनिवेशिक कृषि में खेतिहर मजदूर, छोटे किसान और बड़े जमींदारों के आपसी सम्बन्ध पूर्णतः बदलते नहीं, तथा जब तक उपनिवेशों के गाँव अधिक पूँजी के सहयोग के बिना कुछ कार्य में नहीं लग सकते तथा किसी नये प्रकार के कौशल से छोटी-छोटी इकाई में ही पुनः शक्ति नहीं प्राप्त करते ; जो कि अधिक महत्वपूर्ण है ; तब तक औपनिवेशिक अर्थतन्त्र के लिये कोई आशा नहीं। सब विदेशी सरकार के वश के बाहर हैं। सशक्त औपनिवेशिक नीति की कभी-कभी

कुछ चर्चा हुई है, जैसे एक बार रायल इन्स्टीच्यूट आफ इन्टरनेशनल अफेयर्स की बैठक में ब्रिटिश फेडरेशन और इन्डस्ट्रीज के मंत्री ने प्रस्ताव किया था, कि ऋण के ब्याज की दर के बिना अफ्रीका और अन्य उपनिवेशों का विकास होना चाहिए। प्रथम तो, इस तरह की बातें केवल विचार मात्र की साहसिकता है, कोई क्रियात्मक नीति नहीं; क्योंकि गम्भीर और अज्ञात खतरों से भरी हुई ऐसी सशक्त नीति स्वीकार करने के बजाय, पश्चिमी यूरोप का पूँजीवाद अपने भाग्य से लड़ना ही पसन्द करेगा। फिर इससे यह भी प्रकट होता है, कि पश्चिमी यूरोप के अधिक से अधिक दूरदर्शी अर्थशास्त्री भी औपनिवेशिक विकास की बात पुराने कौशल अर्थात् घटती हुई पूँजी के आधार पर ही सोच सकते हैं। अतः यही सम्भावना है, कि पश्चिमी यूरोपीय पूँजीवाद उपनिवेशों में बचाव की लड़ाई ही लड़ता रहेगा, राजनीतिक से अधिक आर्थिक क्षेत्र में उसे सारे रचनात्मक विचारों को छोड़कर बचाव की नकारात्मक नीति पर चलना पड़ेगा। अधिक से अधिक यह इतना ही कर सकता है, कि राजनीतिक कार्यों के द्वारा, जहाँ तक सम्भव हो, उपनिवेशों से मिलनेवाली शक्ति के ह्रास को रोके। चाहे अनुदारवादी सरकार हो, या कम्युनिस्ट या कोई बीच की सरकार हो, यही होगा ही। सीधा सादा जवाब, कि उद्योगों के समाजीकरण से सब ठीक हो जायगा, पश्चिमी यूरोप के उद्योगपतियों और प्रबन्धकों को तो बड़ा गैर जिम्मेदार प्रतीत होता ही है, साम्राज्यवादी श्रम को भी ऐसा ही लगता है, जो अर्द्ध-चेतन रूपमें उपनिवेशों की आवश्यकता को समझते हैं। यही कारण है, कि मार्क्सवाद को अभी तक पश्चिमी यूरोप ने स्वीकार नहीं किया और अगर किसी विशेष स्थिति में, वह सत्तारूढ़ हो जाय, तो वर्ग संघर्ष तथा वैज्ञानिक कौशल के सम्बन्ध में अपने वर्तमान सिद्धान्तों के रहते, या तो उपनिवेशों के बचाव की नीति पर ही चलेगा, या अगर उसने अपने कथित

आदर्शों पर चलने की चेष्टा की, तो पश्चिमी यूरोपीय अर्थतन्त्र का तेजी से ह्रास होगा, उत्पादन घटेगा और बेकारी बढ़ेगी।

उपनिवेशों में पश्चिमी यूरोप की राजनीतिक कार्यवाही बिल्कुल सीधी सादी है। अगर औपनिवेशिक गरीबी दूर नहीं हो सकती, तो विरोध का अंत करना उस तरह असम्भव नहीं। अपनी राजनीतिक शक्ति के बल पर पश्चिमी यूरोप औपनिवेशिक जनता के क्रांतिकारी कार्य के फलस्वरूप औपनिवेशिक शक्ति स्रोत का एकाएक सूख जाना रोक सका है। अपने आर्थिक ढांचे को कोई खरारा पहुँचाए बिना, उसने औपनिवेशिक विरोध को ठंढा करने के सम्भव प्रयत्न में भी किये हैं। अतः जब उपनिवेशों में पश्चिमी यूरोपकी राजनीतिक कार्यवाही दमन पर नहीं चलती, तो जाँच कमीशन, खोज समिति, रिपोर्टें और छोटे-छोटे सुधारों का सहारा लेती है। ऐसा अनुदारवादी सरकारें ही नहीं, 'जन-मार्चे' की सरकारें भी करती हैं, जैसा कि फ्रांस और स्पेन की सरकारों ने किया, जिनमें सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट दोनों ही शामिल थे इस स्थिति के बदलने की सम्भावना भी नहीं है। पश्चिमी यूरोप को उदार चेतना का नैतिक मूल्य जो भी हो, आर्थिक दृष्टि से वह इतनी अज्ञान है, कि पूँजीवाद के भविष्य का निर्देशन नहीं कर सकती। उसके इस हल का, कि उपनिवेशों को स्वतन्त्र रूप से विकसित होने दिया जाय और वे जितनी शक्ति स्वेच्छा से देना चाहें उसी पर निर्भर रहा जाय ; कभी आर्थिक परिणामों की दृष्टि से परीक्षण नहीं हुआ और अगर हो भी, तो पश्चिमी यूरोप की सरकारों द्वारा उसकी स्वीकृति सन्देहास्पद है। अतः अगर सकल औपनिवेशिक विरोध या उत्पादन शक्ति के अनुपात में किसी बड़े क्षेत्रीय परिवर्त्तन के कारण कोई बड़ा दबाव न पड़ा, तो उपनिवेशों में पश्चिमी यूरोप की राजनीतिक कार्यवाही बचाव की नीति पर ही आधारित रहेगी। आर्थिक ह्रास के बीच यथासम्भव बचाव की राजनीतिक नीति का एक ही अर्थ हो सकता है, कि औपनिवेशिक जनता को पूँजीवाद

की निम्नतम जाति बना कर रखने का प्रयत्न किया जाय; जैसे कि, किसी समय हिन्दुओं ने अपने एक अंग को अन्त्यज बना दिया था।

उत्पादन शक्तियों के संघर्ष से उत्पन्न खतरे के सम्बन्ध में पश्चिमी यूरोप के सोद्देश्य प्रयत्न कौशल-प्रथा के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रिय समझौतों और उत्पादन और व्यापार के एक निश्चित विभाजन के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सके। निर्णायक राष्ट्रों के पूंजीपतियों में गुप्त या प्रकट रूप में ऐसे समझौते हुए और तेल, रसायन, तथा चीनी जैसे क्षेत्रों में चल चुके हैं। जब तक समझौते चलते हैं, तबतक विभिन्न पूंजीवादी राष्ट्रों के बीच संघर्ष के कारण हटाने में सहायक होते है, किन्तु युद्ध रोकने में पूर्णतः असमर्थ रहते हैं। इसके अतिरिक्त, पश्चिमी यूरोप के पास युद्ध का और कोई आर्थिक इलाज न होने के कारण, ये अन्तर्राष्ट्रिय समझौते, जब फिर बने तो विदेशी विनिमय और मुद्रा आदि के व्यापक क्षेत्रों में भी लागू होंगे। इससे दुबारा युद्ध छिड़ने में विलम्ब करने में तो सहायता अवश्य मिलेगी, पर वह न केवल इस कारण, कि विभिन्न महत्वपूर्ण राष्ट्रों में व्यापक आर्थिक सम्बन्ध हो जायेंगे, बल्कि अधिकतः इस कारण कि युद्ध के बाद कुछ बड़े राष्ट्रों के आर्थिक पतन होने से प्रतिस्पर्धा कम हो जायगी। किन्तु ये समझौते स्थायी नहीं हो सकते, क्योंकि एक ओर इन पर औपनिवेशिक शक्ति के घटते हुए लाभ का दबाव पड़ेगा और दूसरी ओर उत्पादन तथा वैदेशिक व्यापार के स्थायी विभाजन पर क्षेत्रीय परिवर्त्तनों का। ये युद्ध में विलम्ब कर सकते है किन्तु उसे रोक नहीं सकते। यह भी सम्भव है, कि उत्पादन, मुद्रा और व्यापार सम्बन्धी इन ढीले-ढाले अन्तर्राष्ट्रिय समझौतों के बाद, जो युद्ध हो वह सचमुच विनाशकारी ही हो।

अमरीका और भारत शेष संसार के दो छोरों को आकर्षित करने वाली चुम्बकीय शक्ति में उन्नति कर रहे हैं। यदि अमरीका पूंजीवादी पद्धति का नेता बना तो, परिणाम स्वरुप पश्चिमी यूरप में जो कुछ होगा उसका फल बुराई की ओर ही झुकेगा और उससे भारत वैकल्पिक अर्थनीति निर्माण के लिए मुख्य रंगभूमि बनेगा।

पश्चिमी यूरप की अर्थनीति के अध्ययन ने उन दिशाओं को स्पष्ट कर दिया है जिनमें पूंजीवादी तरीका विकसित हो रहा है। उत्तरी अमरीका के महादेश के पक्ष में होनेवाला प्रयत्न भी इन दिशाओं में से एक है। हमें यह पता लगाना है कि इस प्रयत्न में अदल-बदल होती है, या मुख्य दिशाओं में से किसी एक का इसके द्वारा सुधार होता है या नहीं। हमारे उद्देश्य के लिए, इस बात की अधिक आवश्यकता नहीं है, कि जापान के अवशिष्ट बड़े पूंजीवाद का विस्तार पूर्वक अध्ययन किया जाय, क्योंकि यह थोड़ा बहुत पश्चिमी यूरप की पद्धति पर ही साथ-साथ विकसित हो रहा है। इतनी बात अवश्य है, कि यहां केवल तहों का अलगाव सरल है और बहिष्कार अपेक्षाकृत धीमा है। पूंजीवादी पद्धति के औपनिवेशक योग के रुप में मानव-जाति की दो तिहाई के सिलसिले में, भारतवर्ष के सम्बन्ध का हमारा अध्ययन, अधिक या कम चीन, व्यावहारिक रुप से सारे एशिया, अफ्रिका, और दक्षिण एवं केन्द्रिय अमरीकी लोकतन्त्र के विस्तृत जन-समुदाय के लिए लागू होगा। इन सभी अर्थनीतियों को बताने के लिए मानो दर्पण बना हुआ है।

तीन पश्चिमी यूरप; जर्मनी, फ्रांस और ब्रिटेन की सम्मिलित उत्पदन-शक्ति की अपेक्षा अमरीका की उत्पादन शक्ति अधिक है। वस्तु-निर्माण और खान के सम्बन्ध की इसकी उत्पादन-शक्ति तो सम्पूर्ण यूरप की उत्पादन शक्ति से भी अधिक है, जो विश्व-अर्थनीति के अन्ताराष्ट्रिय सम्बन्ध में अधिक महत्व रखता है। परन्तु इस आर्थिक विस्तार में अमरीका ने अपनी

आन्तरिक गत्यात्मक शक्ति को समाप्त कर लिया है और अमरीकी गोलार्द्ध के अन्य देशों से प्राप्त होने वाली गत्यात्मक शक्ति को भी नष्ट कर दिया है। अब आगे विस्तार का प्रश्न ही नहीं है। अभी तो अमरीका के सामने उत्पादन के निम्नस्तर में उपस्थित कठिनाई को रोकने की समस्या उपस्थित है।

अमरीकी वार्षिक राष्ट्रिय आय के द्वारा प्रकट उसका महानतम उत्पादन, जो कि १३ करोड़ की जनसंख्या में प्रति व्यक्ति १४०० रुपये के लगभग होता है, पश्चिमी यूरोप के तीन राष्ट्र—ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी के पूर्णांक की एक और तीन चौथाई के साथ अनुकूल पड़ता है। इन तीनों राष्ट्रों की जनसंख्या १६ करोड़ और औतसन प्रतिव्यक्ति उत्पादन ७५० रुपये होता है। ऐसा सुझाव दिया जा सकता है, कि अमरीका में निर्वाह मूल्य की अधिकता और सेवा के क्षेत्र का अधिक विस्तार इस संख्या को गड़बड़ा सकते हैं। देश के उत्पादन की योग्यता का मूल्य-निर्धारण अधिक स्थिर आधारों पर होना चाहिए। १९३७ में विश्व के सम्पूर्ण आरंभिक उत्पादन में यूरप का हिस्सा २१ मिलियन डालर था। सोवियत रूस के साथ यूरप का भाग २८ मिलियन डालर था, जब कि अमरीका और कनाडा के साथ उत्तरी अमरीका का हिस्सा केवल १५ मिलियन डालर था। फिर भी ये संख्याएं पूर्ण और स्पष्ट चित्र नहीं देती हैं, क्योंकि भोज्यान्न और अन्य कृषि सम्बन्धी उपज के आधार पर ये संख्याएँ बनाई गयी हैं। कृषि के अतिरिक्त के उत्पादन में ही सीमित रहनेपर, पता चलता है, कि रूस के साथ यूरप ने ३९ प्रतिशत उत्पादन किया था और रूस के हटा देने पर उसका उत्पादन केवल ३० प्रतिशत रहा; जब कि उत्तरी अमरीका ने विश्व के संपूर्ण उत्पादन का ४० प्रतिशत भाग उत्पादित किया था। उद्योग और निर्माण कार्य में व्यवहृत, ये कृषि-अतिरिक्त उत्पादन, अमरीका की उत्पादन योग्यत की जानकारी देते हैं, जो योग्यता रूस के साथ संपूर्ण यूरोप की योग्यता क

अतिक्रम करती सी दिखाई गई है। अमरीका की उत्पादन शक्ति में कनाडा की उत्पादन शक्ति वहाँ अन्तर्भूत है, इस बात से कोई नया तथ्य नहीं प्रकट होता है, क्योंकि अपेक्षाकृत यह अत्यल्प और अधिक या कम अमरीका के साथ ही संलग्न है। इसके अलावे १९३७ के कुछ उत्पादन-आंकड़ों से, विश्व अर्थनीति में अमरीकी उत्पादन की गुरुता के प्रमाण प्राप्त किए जा सकते हैं। पुनः शस्त्रीकरण को ध्यान में रखते हुए यह स्मरण करने की बात है, कि यूरप के लिए खास कर; यह वर्ष सुविधा-जनक था।

यूरप

कच्चामाल—	रूस के विना	रूस के साथ	उत्तरी अमरीका
	२४प्रतिशत	३४प्रतिशत	३५प्रतिशत
जलावन और शक्ति	३० ,,	३८ ,,	४७ ,,
द्रव्य—	२४ ,,	३६ ,,	३४ ,,

यह अच्छी तरह मालूम है, कि १९२९ में अमरीका ने संसार के पेट्रोलियम के ६५ प्रतिशत से अधिक अपने यहां उत्पन्न किया था और इस अनुपात को अधिक नहीं गिरने दिया था। एक समय तो विश्व के ओटो मोवाइल्स का ८० प्रतिशत अमरीका ने उत्पन्न किया था। इस्पात और रूई में तो इसने विश्व-उत्पादन का आधा स्वयं उत्पन्न किया था। १९३९ के विश्व-युद्ध ने अमरीकी उत्पादन क्षमता को निश्चय ही आगे बढ़ाया है। अब विश्व-अर्थनीति में अमरीका का नेतृत्व अद्वितीय है।

यदि अमरीका की उत्पादन शक्ति एक ओर इस आश्चर्यजनक उंचाई पर चढ़ गयी है, तो दूसरी ओर यह उस चोटी पर पहुंची हुई है, जहां से नीचे की राह भी साफ दीख रही है। यदि १९२९ को १०० मान लिया जाय तो उसके आधार पर १९३७ में अमरीका की खान और वस्तु निर्माण सम्बन्धी स्थिति का पतन ९३ तक हो गया। १९३८ में यह स्थिति ७३ तक

पहुंच गई। ओटोमोबाइल्स ८९ और ४६ तक नीचे उत्तर आया। उत्पादकों के पूंजीय मालोंकी सूची १९३९ में ८७ और १९३८ में ५४ तक नीचे उतर गई। अमरीकाने आन्तरिक गत्यात्मकता नष्ट कर ली है।

ऐसा मालूम होता है, कि रेल और उसके सहायक व्यवसाय, आन्तरिक सड़कें और ओटोमोबाइल्स-व्यवसाय में विस्तार अपनी सीमातक पहुँच चुका था। १९२९ में विश्वके सम्पूर्ण ओटोमोबाइल्स के ६२ लाख के उत्पादन में इसका उत्पादन ५० लाख था, जो कि सभी समयों के लिए रेकार्ड है। यहां तक, कि विद्युत् उत्पादन का विस्तार केवल इसलिए किया जासकता है, कि ह्रास को जीता जाय; न कि इसलिए कि, विस्तार आवश्यक है। आन्तरिक भोज्यान्न और वस्त्र के उपभोग में विस्तार की अधिक गुंजाइश नहीं है। पश्चिमी यूरप के शाही उपनिवेशों के साथ अधिक सम्बन्ध रखे बिना ही, अमरीका ने दक्षिणी अमरीका के प्राप्त होने योग्य सभी गत्यात्मक शक्तियों को समाप्त कर लिया है।

अमरीका को जिस स्थिति का सामना करना पड़ रहा है, वह यह है कि बढ़ी हुई आबादी और वैज्ञानिक विकासों के १९२९ से १९३८ तक के १० वर्ष वाले काल में पूंजीय माल का उत्पादन-सूचनांक (production index) ८७ पर उतर आया और इसके विपरीत यूरप का सूचनांक १११ तक पहुंच गया। ऐसा विदित होता है, कि पूंजीवादी अर्थनीति का नेता राष्ट्र शीघ्र विस्तार हीनता और पीछे की ओर जाने के भाव का अधिक शिकार होता है, अपेक्षाकृत दूसरे सदस्य राष्ट्रों के। जब कि १९३९ का विश्व-युद्ध समाप्त हो चुका है, पश्चिमी यूरपके कुछ पूंजीवादियों को, किसी न किसी रूप से आन्तरिक पुनर्निर्माण को कार्यन्वित करने की कुछ सुविधा मिलेगी ही, पर संयुक्तराष्ट्र अमेरिका को युद्ध जनित विनाश को ठीक करने के लिऐ ऐसी अतिरिक्त प्रेरणा की आवश्यकता नहीं है।

सीमित नवीन व्यवसाय के उत्पादन और उपभोग में जीवित मांग

के कुछ वर्षों का होना संभव है। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र अमरीका अपनी विस्तृत उत्पादन-शक्ति को काम में लाने में असमर्थ हो जायगा, यदि वह मध्ययुद्धमें प्राप्त साधनों को युद्धोत्तर विश्व-व्यापारमें न लगायगा। अन्य किसी बात की अपेक्षा, संयुक्तराष्ट्र अमरीका के एकाकी-भाव के नाश का प्रबल कारण इस ऊपरवाली बात में है। संयुक्तराष्ट्र अमरीका की उत्पादन-शक्ति के कारण ही उसे विश्व-व्यापार में लगना पड़ेगा। उसकी अवस्था इस बात की मांग करती है, कि स्वेच्छा से व्यापार को बढ़ाने के लिए एक संसार चाहिए। अत्यधिक आत्मनिर्भर अर्थनीति अपने उत्पादन के बदले में क्या चाहेगी, इस प्रश्न को छोड़ देने पर भी, अमरीका को गरीबी में भारी भय का सामना करना पड़ेगा और मानव जाति की दो तिहाई के अविरोध का भी, यदि औपनिवेशिक गरीबी पश्चिमी यूरप के पूंजीवाद को आरंभिक रूप से बहिष्कृत करती है, तो निश्चय ही अमरीकी उत्पादन-शक्ति का व्यवहार भी; यह कम करेगी। पूंजीवाद के जीवन के लिए सब से महत्व का प्रश्न तो यह है, कि क्या पूंजीवादी अर्थनीतियों का अग्रणी इस योग्य होगा, कि वह औपनिवेशिक गरीबी का सामना यूरोपीय पूंजीवादों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह कर सके?

परन्तु विश्व सीमित है। साम्राज्यवाद के विस्तार का क्षेत्र बंध गया है। उपनिवेशों की बढ़ती गरीबी, पूंजीवादी अर्थनीति में संकोच उत्पन्न करती जा रही है, जो पूंजीवादी अर्थनीति पहले उससे लाभ उठा रही थी।

पूंजीवादी अर्थनीतियों के अग्रणी को बहुत शीघ्र ही पता लगाना है, कि क्या वह बाहरी गत्यात्मक शक्तिका विस्तार अपने ही लाभ के लिए कर सकता है? क्या यह संभव है, कि अपने साम्राज्य के उपनिवेशों के पथ से विश्वव्यापार को हटाकर उसे व्यापारी राष्ट्रों के उपभोग और उत्पादक यन्त्रों में विस्तार की ओर ले चलनेवाले रास्ते में लगाया जाय? अमरीका की अर्थनीति को, अपने को जीवित रखने और अपनी उत्पादन-शक्ति के

पूर्ण व्यवहार के लिए, इस प्रश्न का समाधान करना होगा, नकि विश्व-कल्याण के लिए या उपनिवेशों की भलाई के लिए। यदि इस प्रश्न का कोई उत्तर न हो तो, संयुक्तराष्ट्र के पूंजीवाद को निश्चित रूपसे वहिष्कार की प्रवृत्ति या वर्ग के जाति में रूपान्तर को स्वीकार करना पड़ेगा, जैसा कि पश्चिमी यूरप के साम्यवादों में हमने देखा है। पश्चिमी यूरप से अपने को भिन्न रखनेवाली यदि कोई विशेष शक्ति अमरीका के साम्यवाद में हो, तो उसका पता लगाना होगा। पर, ऐसा करने के पहले, विश्व-अर्थ-नीति जिन खतरों में है, उनके विस्तृत क्षेत्र का ही, सामान्यतः, अध्ययन करना उचित है।

आज विश्व-अर्थ-नीति को सब से बड़ा खतरा मानव जाति की दो तिहाई के उत्पादक यन्त्रों से है। ये यन्त्र, उन्नत कला और विकासोन्मुख विज्ञान की सुविधा से वंचित हो, विदेशी पूंजीवादों के भार के अन्दर पिस से रहे हैं। इन यन्त्रों में लगे श्रम भी क्रमशः निष्फलता ही प्राप्त करते जा रहे हैं। इस यन्त्र में लगे ५००० करोड़ श्रम-घन्टे, स्वतंत्र पूंजीवादी अर्थनीतियों द्रव्योत्पादक २५० करोड़ श्रम-घन्टों के बराबर हैं।

मानव जातिके उत्पादक यंत्रों के इस असन्तुलन के साथ ही उनके राजनीतिक और अस्त्र-शस्त्र सम्बन्धी बल में भी भारी असमानता है। इस असन्तुलन के तीन मुख्य रूप हैं। एक रूप यह है, कि क्या विश्वके उत्पादक औजार, सभी भौगोलिक परिस्थितियों में, उस उत्पादन की क्षमता को प्राप्त कर सकते हैं; जिस क्षमता को किसी सुविधा जनक परिस्थिति में पाया जा चुका हो? यदि यह संभव नहीं, तो क्या पिछड़े राष्ट्रों के औजार को इस प्रकार फिर से बनाया जा सकता है कि वे, विश्व-उत्पादन में प्रति श्रमिक जो सामान्य हिस्सा पड़ता है, उतना फल दे सकें। ये दो रूप, पिछड़े राष्ट्रों के क्रियात्मक कार्यों से सम्बन्ध रखते हैं। वर्तमान पूंजीवाद का इन से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है। ये केवल मदद मात्र पहुँचा सकते हैं, जब कभी उसकी आवश्यकता हो।

परन्तु एक तीसरा भी पहलू है। इसके साथ वर्तमान पूंजीवाद का सम्बन्ध आवश्यक है। वह पहलू यह है, कि उपनिवेशों के श्रम-धन्टों का उत्पादन फल कम होना; वह भी उस संसार में, जहां किसी नवीन को आने की इजाजत नहीं है और जो पहले से हैं उन्हें अपने पर निर्भर रहनेको ठगा जाता है। प्रतिहत लोगोंके गिरते प्रतिफल से स्वतंत्र अर्थनीतियों के उन्नत यान्त्रिक व्यवसाय को आघात पहुंचता रहा है। एक समय था, जबकि यन्त्रीकरण सफलतापूर्वक होता जाता था; जब कभी किसी नवीन का संयोग मिलता था, पर अब इसकी विपरीत स्थिति, जो सदा ही दीख रही है, रोकी नहीं जा सकती है। औपनिवेशिक-वृत्त के बाहरी घेरे पर अधिकाधिक संख्या में जन-समूह फेंका रहे हैं। यह समूह, न तो विदेशी उत्पादन के बाजार के रूपमें वर्तमान हैं और न विदेशी पूंजी के लिए व्यय- क्षेत्रके रूपमें। उनके उपभोग को उन्नत करना सदा नैतिक और मानवी दृष्टिसे आवश्यक रहा है। परन्तु अब यह स्वतंत्र पूंजीवादी अर्थतंत्रों के लिए आर्थिक आवश्यकता में भी परिणत हो गया है। पिछड़े जनसमूह के उत्पादक औजारों में तरक्की लाकर ही इस कार्य को किया जा सकता है। ऐसा करने का अर्थ है; आन्तरिक वितरण को इस प्रकार सुधारना, कि बढ़ी हुई उपज में अधिक से अधिक व्यक्ति कुछ भी हिस्सा अवश्य प्राप्त कर सकें। पिछड़े समूह के उत्पादक और वितरक औजारों के इस सुधार में पश्चिमी यूरप की अर्थनीतियां असमर्थ रही हैं। सस्ती चीजों की बिक्री में क्षणिक वृद्धि से अधिक, जापानी अर्थनीति भी इसके सुधारमें असमर्थ है।

इस विश्व- समस्या के साथ, रूसी अर्थनीति भी आर्थिक दृष्टि से, अबतक सम्बन्धित नहीं हो सकी है। हमें देखना है कि विश्व-अर्थ-नीति के इस महान् प्रश्न को नया मोर देने में संयुक्त राष्ट्र अमरीका का प्रमुख पूंजीवाद, यदि संभव हो तो, कितनी दूरतक समर्थ हो सकता है। प्रतिशत समूह भी स्वयं किस प्रकार अपने उत्पादक और वितरक साधनों को पुनः सुधारने का प्रयत्न कर सकता है; यह भी हमें देखना है।

विश्व की दो तिहाई में पिछड़े साधनों से इसके बादका दूसरा खतरा है वर्तमान कौशल का खतरा। भारी और व्यापक-इकाई का कौशल आज की दुनियां का तरीका हो गया है, जिस में कुछ शक्तिशाली राष्ट्रों को व्यवसाय में विज्ञान के उपयोग की पूरी सुविधाएं उपलब्ध हैं। इन सभी कौशलों को विश्वव्यापी नहीं बनाया जा सकता है। इसी रूप में, यदि भारत और चीन को अपने जहाज मरम्मत के कारखाने, जलचक्की, और सूती निर्माणी बनाने हों, तो उन्हें निश्चित रूपसे अपने धन खर्च करने पड़ेंगे और इस प्रकार वे विश्व-सम्पत्ति में कुछ बढ़ायेंगे ही, पर साथ ही वे जापान एवं ब्रिटेन के पूंजीवादों की उत्पादकता से काफी सहायता भी लेंगे, जो पूंजीवाद अबतक इन आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहे थे। किसी भी अग्रसोची मानव के भविष्य के लिए इस प्रश्न को, एक प्रकार से, हम लोग कठिन मान सकते हैं। कोई भी स्वतन्त्र राष्ट्र, दूसरे का धन कम न हो, इसके लिए अपना धन खर्च नहीं कर सकता है। इसी प्रकार संसार के सभी राष्ट्र जन-श्रम के परिणाम में समान भाग भी लेना पसन्द नहीं करेंगे। इसलिए अर्थनीति में वर्तमान विधि के उपयोग और उसके साथ ही, राष्ट्रों के धन में साधारण स्थान परिवर्तन आवश्यक है।

वर्तमान कार्यविधि के खतरे का भयावह पहलू कहीं और है। यह विज्ञान के असम व्यवहार तथा विविध मानवीय मांगों के व्यापक उत्पादन में निहित है। यदि सभी प्रकार के मालों का असीम मात्रा में उत्पादन संभव हो तो, यह खतरा नहीं रहता। परन्तु किसी भी युग की और किसी प्रकार की अर्थनीति में ऐसा होना असंभव है। यहां तक, कि रोटी और दूध जैसी प्रारंभिक आवश्यकता की चीजों की नगरपालिका द्वारा बिना-कीमत प्राप्ति का साधन अब तक मनुष्य नहीं खोज सका। सम्भवतः सामाजिक स्वामीत्व के अधीन अत्यन्त बुद्धिमानी से संचालित अर्थनीति में जल की तरह ही रोटी और दूध की प्राप्ति का प्रबन्ध कीमत के बिना मनुष्य कर सके और वह भी

एक निश्चित समान-अंशमें, पर इसके लिए बहुत लंबे समय की जरूरत है। सामान्य रूप से अर्थनीति को, चाहे स्वामीत्व और प्रबन्ध कैसा भी क्यों न हो, कीमत और कमी की अर्थनीति होनी चाहिए। दयालु परमात्मा हमलोगों को कामधेनु दे या आदम के स्वर्गमें फिर वापस ले जाये, तो दूसरी बात है। हमलोग कीमत के विधान से बच नहीं सकते। पूंजीवादी अर्थ-नीतियों में, इस मूल्य-विधान ने इस युद्ध की आवश्यकताओं से मिलकर विज्ञान का दलगत व्यवहार तो किया, पर उसका सर्वत्र व्यवहार नहीं किया है। किसी भी समय में विज्ञान और व्यापक-उत्पादन, मानवी मांगों की दुनियां में, अपने लिए थोड़ा भूखण्ड अवश्य पा जाते हैं। यह विशिष्ट मांग पूर्ति की दृष्टि से अधिक लाभप्रद होता है और इस क्षेत्र की उत्पादन शक्ति विस्तार की दिशा में प्रेरित होती है। यह भारी यन्त्रों, व्यापक इकाई के कौशल और व्यापक-उत्पादन का आधार है। रूस की सोविअत अर्थानीति ने लाभ की प्रकृति को हटा दिया है, पर पूंजीवाद के यान्त्रिक आधार, इसके बिज्ञान के दलगत व्यवहार और इसकी एकतरफा व्यापक इकाई के कौशल को उसने अपना लिया है। किसी भी अर्थनीति में स्वामीत्व का रूप और उसकी विधि या कौशल, दो स्वतंत्र चीजे हैं इस-लिए इनका अलग-अलग अध्ययन होना चाहिए। ऐसा नहीं होने से विशेष प्रकार की विधि का प्रयोग विशेष प्रकार के व्यवसाय में ही होने लगेगा। संभव है, वह कभी विस्तारित हो और कभी दूसरी पारी में असफल। यह अपेक्षाकृत अच्छे स्वामीत्व और सामानके लिए परिवर्तन किए जानेपर बाधा पैदा करने के लिए, विदेशी शोषण के लिए, युद्ध शास्त्र में खूब सोच विचार कर उपस्थित की गई रुकावट के लिए और सर्वाधिक बुद्धिमानी एवं सामाजिक समझ के निराशामय अनुचित वितरणके लिए और धनके असम बंटवारे के लिए प्रयुक्त हो। व्यापक इकाई की विधि और विज्ञानके दलगत प्रयोगवाली अर्थनीति कभी भी सन्तुलन प्राप्त नहीं कर सकती है।

कुछ आवश्यकताओं के साथ सादगी की जिन्दगी में रहने की मांग के साथ इस विधि या कौशल को मिलाकर संदिग्धावस्था नहीं उत्पन्न करनी चाहिए। साधारण स्थान सम्बन्धी विकेन्द्रीकरण के लिए तर्क के रूप में इसे उपस्थित करना नहीं चाहिए। यह विकेन्द्रीकरण का विचार आज फैशन सा चल पड़ा है। इसका सीधा-सादा भाव यही होता है, कि वर्तमान पद्धति या कार्यविधि को अनेक रूपों में बांट दिया जाय, और विभिन्न क्षेत्रों के विभिन्न निर्माणियों में उनमें विशेष योग्यता प्राप्त की जाय। यह तर्क हस्तकौशल का समर्थक तो नहीं होसकता है, पर यन्त्र और यान्त्रिक एवं विद्युत् सम्बन्धी बलके निषेध के लिए शायद ही कुछ काम में आवें। ये सभी पहलू, टेकनिक (विधि) की वर्तमान समस्या में परिवर्तन कराने वाली शाखाएं हैं। मौलिक समस्या यह नहीं है, कि यान्त्रिक या वैद्युतिक बल में कमी की जाय, बल्कि इसे छोटी मात्रा में भी उत्पादनके लिए उसी प्रकार प्राप्य बनाना है, जैसा कि, उन्नतशील अर्थनीति में यह प्रकाश, वायु या गर्मी के लिए उपभोज्यके रूपमें उपलब्ध है। इससे काम में आनेवाली विद्युत-मात्रा और अश्वशक्ति में वृद्धि अवश्य होगी। ऐसा प्रतिशत जन-समूह के लिए आवश्यक है। इस प्रकार प्राणशक्ति, एक प्रकार से, सभी प्रकार के कामों के मिलने से बनेगी और इसके साथ ही, छोटी इकाई के यन्त्र वस्तुओं के छोटे-छोटे टुकड़े नहीं, बल्कि सम्पूर्ण माल ही उत्पन्न करने लगेंगे। ऐसा करने के लिए विज्ञान में एकदम नवीन रूप से आरंभ करने की आवश्यकता होगी, जो कि एक प्रकार से लचकदार लघु-इकाई की टेकनिक की तरह ही है। यह सफलता तुरत नहीं प्राप्त होगी। जलचक्की और मोटर आदि के निर्माण के क्षेत्र में यह एकदम संभव भी नहीं मालूम पड़ती है। परन्तु अर्थनीति को, लचकदार टेकनिक को प्राप्त करना ही अपना उद्देश्य बनाना चाहिए। केवल इसप्रकार की अर्थनीति ही सुखद-विस्तार, धन का समान बंटवारा और सामाजिक समझदारी को

प्राप्त करने की आशा कर सकती है। केवल इस प्रकार की अर्थनीति ही ऐसा संतुलन पा सकती है, जिसमें विज्ञान के चर्तुमुखी प्रयोग की तरमिकता में मनुष्य के विभिन्न भागों का सुन्दर संयोग रहता है।

इसी प्रकार, शायद, जहां संस्कृति, अंशिक किन्तु अनुचित प्रसार के साधनों के अधीन है, उस शृंखला के स्थान पर संस्कृति और अर्थ (सम्पत्ति) शायद सर्वतोमुखी और क्रमिक विकास में सम्मिलित सहयोगी वन सकते हैं। हमने देखा है, कि सुविधा प्राप्त तथा राज्यसत्तात्मक पश्चिमी यूरोप अपनी विगत यन्त्र रचनात्मकता के बोझ से इतना दबा हुआ है, कि वह लचीली विधियों (विधान, प्रणाली, तरीके) को ग्रहण नहीं कर सकता, और सोवियत रूस नये प्रकार के वैज्ञानिक ढंगों के प्रयोगों के लिए तैयार नहीं जान पड़ता। अब हमें यह देखना है, कि अमरीकाके पास इस दिशा में कुछ प्रदान करनेके लिए है या नहीं, वह भी विशेष कर तब, जव संत्रस्त राष्ट्र नये प्रकार के विधान को उपस्थित करने के लिए प्रचुर समझ और साहस इकट्ठा कर सकते हैं।

विश्व सम्पत्ति के वैयक्तिक अधिकार तथा उससे सम्बद्ध वितरण से तीसरा खतरा है। पूंजीवाद के आलोचकों ने इस खतरे को "उत्पादन की शक्तियों तथा उत्पादन के सम्बन्धों का संघर्ष या 'उत्पादन, और क्रयशक्ति या उपभोग के बीच का अन्तर' जैसी उक्तियों के बीच रखा है। जो लोग अर्घ्य श्रमिक-सिद्धान्त और बचत के अर्घ्य का सिद्धान्त जैसे सैद्धान्तिक आधार को अस्वीकार करते हैं, वे भी पूंजीवाद के प्रधान दोष वर्द्धमान उत्पादन और संकोचशील उपभोग के बीच के संघर्ष की चर्चा करते ही हैं। जो हो, सत्यता यही है, कि उस समाज में भी, जहाँ वार्षिक आय का एक बड़ा अंश पूंजीपतियों और जमीन्दारों के द्वारा अपहृत कर लिया जाता है, संकोचशील उपभोग का कोई कारण नहीं है। उपभोग में इस प्रकार का भिन्नत्व उपस्थित होता है, कि विलास की सामग्रियाँ सम्पत्ति में अपना अनधिकृत प्रमुख स्थान रखने लगती हैं। अधिकारियों की तो नहीं, किन्तु मजदूरों और छोटे

लोगों की क्रय-शक्ति सीमित (अवरुद्ध) हो जाती हैं, जिससे विलास की सामग्रियों का अधिक उपभोग होने लगेगा और उत्पादन तथा उपभोग के बीच अन्तर नहीं रह जायगा। संभव है, कि पूंजी की पूरी आय उपभुक्त नहीं होती और इसका बड़ा अंश बच जाता हो, यह बचत उससे भी अधिक हो सकती है। इस अवस्था में उपभोग में कमी होती जायगी। किन्तु तब यह लागत की कमी या उत्पादन की अभिवृद्धि की अयोग्यता ही होगी। वास्तव में इसी प्रकार पूंजीवाद के संरक्षक परम्परागत आलोचकों के तर्क या कुतर्क से व्यापार चक्रों तथा मूल्य-न्यूनता का रूप उपस्थित करते है। उनका विश्वास है, कि जिस समय पुरानी मांग समाप्त हो जाती है, वैज्ञानिक प्रवृत्ति समाप्त (लुप्त) हो जाती है और कोई बड़ा आविष्कार नहीं होता, उत्पादन बचत को पचा नहीं सकता। दूसरे राज्यों में उत्पादन की शक्तियाँ दुर्बल पड़ जाती हैं। इस प्रकार प्रारम्भ किया गया, पूंजीवाद के परम्परागत आलोचकों द्वारा प्रतिपादित अल्प क्रय-शक्ति तथा संकोचशील उपभोग के सिद्धान्तने अपर्याप्त लागत का पूरा चक्र तैयार किया है और अपने संरक्षक के हाथ में उत्पादन की शक्तियों को दुर्बल बना दिया है। उन सभी सिद्धांतों की यही गति होती है, जिसमें केवल आंशिक सत्य रहता है। कुछ समय के लिए वे बहुत ही साफ और भड़कीले जान पड़ते हैं और तब वे व्यापक रूप में साधारणीकृत जान पड़ने लगते हैं।

हम लोग इन भूलों की उत्पत्ति का कारण जानते हैं और यह भी जानते हैं, कि उत्पादन, उपभोग तथा बचत पर भावात्मक विचार करना या अलग की गयी पूंजीवादी सम्पत्ति को एक इकाई के रूप में विचार करना कितनी बड़ी भूल है। हम लोगों ने इन्हें आन्तरिक पूंजीवादी चक्र और वाह्य औपनिवेशिक चक्र के अति जटिल द्वन्द्व की श्रेणी में देखा है। पूंजीवादी विकास स्वतन्त्र-सम्पत्ति की प्रसारात्मक साधनात्मकता और संप्राप्त सम्पत्ति की संकोचशील साधनात्मकता के बीच के संघर्ष पर आधारित है।

अर्घ्य के साधारण सिद्धान्त से सम्बन्ध रखने वाले सभी प्रश्नों को हम छोड़ते ही चलें। इस विवेचन के प्रारम्भ में यदि 'अर्घ्य' शब्द का व्यवहार हुआ है, तो वह प्रायः मार्क्स के आर्थिक विचारों को समझाने के लिए ही। और जहाँ बचतको अर्घ्य के सिद्धान्त से ठीक करने की चेष्टा की गयी है, वहाँ राजनीतिक और समृद्ध असमताके क्षेत्र में काम करने वाली स्वार्थपरता के उद्गम और विस्तार के अतिरिक्त यह अन्य किसी वस्तु का द्योतक नहीं है आर्थिक जाँच का अत्यन्त ही फलप्रद विषय अर्घ्य और उसकी माप है। किन्तु जितना फल मिला है, वह इस विषय पर किए गए परिश्रम के अनुपात में बहुत ही कम है। अर्घ्य के सभी प्रचलित सिद्धांत श्रम के सिद्धान्त अथवा मांग और पूर्ति सिद्धांत के ही रूपान्तर हैं। जीवन के आर्थिक पदार्थ को समझने में कोई सिद्धांत सहायक नहीं बनता, क्योंकि सिद्धांत अपरिवर्तनशील और शाश्वत होता है, जब कि पदार्थ तरल और ऐतिहासिक होता है। हम लोगों ने देखा है, कि अर्घ्य के माप के लिए श्रम की अवधि की जो सामाजिक आवश्यकता मार्क्स के अनुसार है, वह किस विज्ञान के उपयोग में राजकीय औपनिवेशिक असमता के समक्ष किस प्रकार उलटा पड़ा है। इस सिद्धान्त में वास्तविक महत्व की चीज केवल इसका यही आदेश है और आधार यह है, कि श्रमकी अवधि टिम्बक्टू में या सिडनी में या कहीं भी करीब करीब बराबर उत्पादन कर सके और इसे करीब करीब बराबर का उपभोग भी दिया जा सके। इसी प्रकार पूर्ति और मांग का सिद्धान्त सीमान्त—इकाई तथा अपेक्षाकृत अधिक काम के रूप में भी जान-बूझ कर उस जबर्दस्ती आरोपित शर्त को, जिसके अन्दर क्रय-विक्रय का समुचित कार्य होता है, इन्कार करता है। यह सिद्धान्त सम्भवतः लेखा तथा औद्योगिक प्रबन्धके सिद्धान्तके रूपमें काफी अच्छा है, किन्तु अधिकार और शासन के परिवर्तित होनेवाले रूपों या आधारित, बदलती हुई सम्पति के अर्घ्य के प्रदर्शक के रूप में यह अत्यन्त ही दुर्बल सिद्ध होगा। संभवतः

यह सब विवाद उस प्रश्न से उत्पन्न हुआ है जो है ही नहीं; अर्घ्य क्या है, यह पूछना वैसा ही है, जैसा यह पूछना, कि ईश्वर क्या है ? तत्वदर्शन के लिए यह प्रश्न भले ही अच्छा हो ; किन्तु अर्थशास्त्र के लिए तो उचित प्रश्न मूल्य-विधि से सम्बन्ध रखता है, जिसके द्वारा ऐतिहासिक शर्तें मुद्रा-प्रकाशन में परिणत हो जाती है। इसलिए अर्घ्य विषयक विवाद का परित्याग करें और इसके ध्वंशावशेष से केवल अर्घ्य की वस्तु को ही ग्रहण करें ताकि श्रम-अवधि किसी भी स्थान पर करीब करीब बराबर हो, उत्पादन हो सके और किसी भी रूप में करीब-करीब बराबर ही उपभोग करने में समर्थ हो सके ; और तब अर्थशास्त्री मनुष्य को कुछ खास परिस्थितियों में उत्पादक और कुछ खास परिस्थितियों में उपभोक्ता के रूप में अध्ययन करें। हमलोगों की जाँच का सम्बन्ध पूंजीवादी विकास से रहा है। हमलोगों ने पूंजीवाद का अध्ययन इस समय की विधि के अनुसार किया है। इससे उन विगत तथा वर्त्तमान प्रकृतियों पर प्रभाव पड़ा है, जो भविष्य में भी चलती रहती हैं। किन्तु इससे भी अधिक यह जाँच की विधि के लिए प्रसिद्ध है। यह संभव और सार्थक भी हो सकता है, कि इस विधि और इस परिणाम पर आधारित सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र का तर्क तैयार किया जाय; किन्तु यह तो एक बहुत बड़ा और स्वतन्त्र प्रयास होगा। इस प्रकार का तर्क अनुमानतः पांच तत्वों के विषय का वर्णन कर सके—अपने अर्थशास्त्री व्यवहार में, मनुष्य अपने सम्बन्धित उत्पादन में, उत्पादन-साधन, विश्व-सम्बन्ध, राजनीतिक शासन और अधिकार। निश्चय ही ये श्रम और उत्पादन-साधन के दो तत्व होंगे और वे अन्य तीनों तत्वों के प्रसंग में क्रिया और प्रतिक्रिया करते रहेंगे।

इस प्रकार, पूंजीवादी अधिकार के भयावह परिणाम 'उत्पादन की शक्तियों तथा वितरण के रूपों के बीच के संघर्ष' जैसी सूक्तियों में निर्धारित नहीं किए जा सकते। इन खतरों को अलग देखना होगा। मानव जाति की एक तिहाई के बीच की उपभोग-सतह ही इन सबों से अधिक महत्वपूर्ण है।

प्रतिहत राष्ट्रों के उत्पादन और वितरक साधनों का ही यह फल है, जो संसार में पूंजीवादी शासन का स्वयं ही परिणाम है। हमलोग यहाँ (१) औपनिवेशिक भूखमरी और (२) विदेश के बने विशेष मालके ह्रासमय उपभोग और अवरोध को ही ध्यान से देखें।

आन्तरिक पूंजीवादी वृत्तके भीतर वितरण की यन्त्ररचना के सम्बन्ध में ही अपने अध्ययन को सीमित करने पर आधुनिक विकास के आधार पर विदित होता है; कि अत्यावश्यक वस्तुओं के उपभोग के विरुद्ध विलासिता के उपभोग के प्रति दिया गया जोर बढ़ता ही जा रहा है। पूंजीवादी अर्थनीति अपनी उपलभ्य उत्पादकः शक्ति के पूर्ण व्यवहार या विकास में असमर्थ होकर, जो उपाय खोजती है, उसके परिणाम स्वरूप वेकारी, सर्वाधिक नौकरी और मूल्य में चढ़ाव और उतार होते हैं, जिनसे मजदूरी पानेवालों को उलटा फल भोगना पड़ता है। इसका नतीजा यह होता है, कि आवश्यक भोजन वस्त्र और निवास का उपभोग मात्रा और गुण दोनों दृष्टियों से, अत्यन्त हो जाता है। पश्चिमी यूरप की आवादी की लगभग २० प्रतिशत जनता की गरीबी रेखा के चारो तरफ के उपभोग के सम्बन्ध में यह कथन संभव होता है।

जब तक लाभका ढांचा, और साम्राज्य के उपनिवेशों के उत्पादन के सम्बन्ध का विश्वव्यापी नाता दृढ़ता से कायम रहते हैं, तबतक इस तवाही के प्रश्न का स्थायी उत्तर, न्यूनतम वेतन और सामाजिक सुरक्षा की किसी योजना के द्वारा, दिया जाना कठिन सा ही है। सज्जा और मनोविनोद के लिए आवश्यक वस्तु के इच्छापूर्वक त्याग की मात्रा भी कुछ पाई जाती है, जैसे कि, पश्चिमी यूरपकी लड़कियां सम्पूर्ण सप्ताह एक शाम खाना खाकर रहना पसन्द करेगी, जिससे वह अपने वस्त्रों को अगले मनोविनोद की कोई घड़ी के लिए धुलवा सकने में समर्थ हो सके। कोई इस प्रकार की पूंजीवादी सभ्यता पर निर्भर रह सकता है, जिसमें इस प्रकार के खर्चका सिलसिला है। फिर भी आवश्यक रूपसे, अत्यन्त उन्नत पूंजीवाद सम्बन्धी अर्थनीति में ज्यादे

प्राप्त पूंजीका कुछ अंश विलास में 'खर्च होना चाहिए, क्योंकि कर-नीति और पूंजी लगाने के लिए, नये क्षेत्रके अभाव के द्वारा, इसको प्रोत्साहन मिलता है। यह इसलिए भी ऐसा होता है, कि यदि ऐसा न हो, तो उत्पादन की और कमी हो जायगी तथा मूल्य-ह्रास ज्यादे होजायगा। संकोचनशील अर्थनीतियों के प्रसंग में अत्यधिक पूंजीवादी सम्बन्धी मुनाफा विलासिता पर होनेवाले खर्च को एकप्रकार के राष्ट्रियगुण में परिणत कर देता है। वस्तुतः आवश्यक वस्तुओं पर होनेवाले अल्प खर्च की तरह, विलासिता के खर्च में भी अनेक श्रेणियां हैं, पर इस पूंजीवादी वितरण के भयावह ढांचे को हम दूसरे शब्दोंमें, आवश्यक वस्तुओं का कम उपभोग और विलासिता के उपभोग की वृद्धि कह सकते हैं।

परन्तु इधर के पूंजीवाद का वितरण सम्बन्धी खतरा, विलासिता पर होनेवाले बढ़े हुए खर्च और आवश्यक वस्तु पर होनेवाले बंधे हुए खर्च की अपेक्षा, अधिक गहरा होता जा रहा है। इधर के पूंजीवाद की आशातीत आय को न तो पूरा खर्च ही किया जा सकता है और उसे न पूरा उत्पादन में ही लगाया जा सकता है। इसलिए इसका बहुत बड़ा अंश निश्चित रूप से बेकार पड़ा रहेगा।

यह याद रखना चाहिए कि ये आय, उस व्यवस्था के दानव हैं, जिन के द्वारा तीन पश्चिमी यूरप के राष्ट्र, संयुक्तराष्ट्र अमरीका और जापान के पूंजीवाद यान्त्रिक हिस्से, यन्त्र, यातायात एवं शक्ति की इंजिन, और बहुत दूर तक, कारखानों में निर्मित वस्तुओं की संसार भरकी मांगको पूरा करते है। इस प्रकार यह एक ऐसी सबल शक्ति है, जो विश्वके पूंजीवादी लाभों को इन केन्द्रों में वितरित करती है। परन्तु इस समय वस्तु निर्माण, या पूँजी रूप में व्यय के लिए इन लाभों को फिर से नहीं लगाया जा सकता है। बाहरी गत्यात्मकता की बढ़ती थकान के तर्कों से हमलोग परिचित ही हैं, फिर भी हमलोग बाहरी गत्यात्मकता के उस पहलू तक ही अपने को सीमित रखेंगे, जो कि

इसके लाभ को, फिर पूँजी लगाने के रूप में व्यवहृत होने से रोकता है। प्रतिहत अर्थनीतियों में पूंजीलगाने के क्षेत्रों को एक एक करके हमें देखना है। प्रतिहत अर्थनीतियों को औजारों के व्यवसाय से युक्त करने का प्रयत्न निश्चय ही अधिक खतरनाक है, क्योंकि, आरम्भिक लगाई पूंजी जो कुछ भी हो, पश्चिमी पूंजीवाद अपने यन्त्र और इन्जिनों की बिक्री के रास्ते को इस प्रकार स्वयं अवरुद्ध कर लेंगे। जबदर्स्त राष्ट्रके राजनीतिक और जिसको रोका न जा सके ऐसी प्रतिद्वन्दिता के प्रभाव की बात छोड़कर, अन्यत्र, कोई भी पूंजीवादी राष्ट्र अपने औजारों को बेचना नहीं चाहेगा, पर उसके द्वारा हुए उत्पादक—इन्जिन, सूती-यन्त्र, जल-चक्की, छापाखाना आदि को बेचना चाहेगा।

एकवर्ष में जो मांग की जाती है, वह बीस सालकी वार्षिक हो जायगी। १९४२ के सालमें, लगभग १००० प्रतिशत यन्त्रों के हिस्से के प्रसार में संयुक्तराष्ट्र अमरीकाने २००० मीलियन डौलर्स की कीमतके औजारों से कम ही उत्पन्न किया, जबकि सम्पूर्ण उत्पादन ३०से ४० गुणा अधिक था। संयुक्त-राष्ट्र के औजारों का व्यवसाय युद्धोत्तर काल में मूल्यह्रास का शिकार होगा क्योंकि औजार १० से २० वर्ष तक की रह सकता है इसी तरह, संयुक्त राष्ट्र अमरीका को छोड़कर, शाही पूंजी प्रतिहत अर्थनीतियों वाले राष्ट्र में निर्मित वस्तु की बिक्री के साथ इस प्रकार मिली हुई है, कि यदि यह अपने यन्त्रों को बदले में बेचना चाहे या उन में पूंजी लगावे, तो यह अपने को बुरी तरह दलित करेगी। यह खतरा, वरकिंगघम और लंकाशायर के बीच के संघर्ष के सुपरिचित पहलू में निहित है। शाही पूंजी ने जल-चक्की की अपेक्षा बिजली को बेचना ज्यादे पसन्द किया होता, यदि किसी तरह यह समुद्री तार या किसी और रीति से विद्युत् धाराको लाभके साथ जहाज पर लेजा सकती। यह पूंजी लगातार वल्व, रेडियों, रेफ्रिजिरेटर, आदि ही बेचना चाहती है। यह इनके उत्पादक यन्त्रों को बेचने का खतरा नहीं मोल ले सकती है। इन सबों के

अतिरिक्त, एक आन्तरिक प्रतिद्वन्द्विता भी है, और इसलिए शाही पूंजी अपने उपभोज्य पदार्थों की बिक्री को कायम रखने का पूर्ण प्रयत्न करती है। वह अपने औपनिवेशिक उत्पादन के नये क्षेत्रों में अपने को लगाना पसन्द नहीं करती है।

आत्म-रक्षा की भययुक्त और सुरक्षा वाली यह नीति इस बात से और उत्साहित होती है, कि संयुक्तराष्ट्र अमरीका के साथ, अन्य प्रमुख पूंजीवाद अर्थनीतियों से प्राप्त, बढ़े हुए उत्पादन को आत्मसात् करने की क्षमता नहीं रख सकते हैं। उनकी भोज्यान्न और कच्चे माल की मांग विस्तार योग्य नहीं है। ब्रिटेन में बढ़े हुए अन्न की उपज और संयुक्त राष्ट्र अमरीका की आंख में तैल सम्बन्धी नीतिकी खोज, जैसे विकास विश्व व्यापार पर अपने प्रभाव के रूप में, एक दूसरे को रद्द कर देंगे। इस लिए जब तक कि स्वतन्त्रता की वायु प्रतिहत अर्थनीतियों की विधि और उसके विज्ञान को इस प्रकार फलित नहीं करती, कि वे कच्चे माल या अच्छे माल को उत्पन्न कर सकें, तब तक इनके भोजन और आरंभिक उत्पादन को बढ़ाने की समस्या, विश्व व्यापार पर अपना प्रभाव डाले बिना आन्तरिक प्रश्न बनी रहेगी। मानव मात्र की दो तिहाई के लिए भोजन और वस्त्र की पूर्ति को बढ़ाना मनुष्य की अर्थनीति का महान कार्य हो सकता है पर विश्व-पूंजीवाद को तबतक इस विषय से उदास रहना चाहिये, जबतक कि यह अन्तर्राष्ट्रिय विनिमय के लिए माल या पूँजी लगाने के लिए प्रतिफल नहीं देता। सीमिति कच्चे मालों की अल्प मजूरी के उत्पादक के रूप में यातायात और जन कल्याण संस्थाओं के करदाता के रूप में और निर्मित वस्तुओं के उपभोक्ता के रूप में औपनिवेशिक जनता को स्वार्थमय शाही पूँजी मिलती है। स्वार्थों के ये विभिन्न क्षेत्र नवीन पूँजी के व्यवहार के लिए कोई मौका ही नहीं देते। जहां, प्रतिहत अर्थनीति में नवीन पूंजी का लगना उसके नफा के मार्ग को अवरुद्ध करता है, वहीं विश्व पूंजीवाद का पूर्ण अन्त

उपस्थित होना है। इधर के पूँजीवाद का सब से बड़ा वितरण सम्बन्धी खतरा है अनुत्पादक बचत का बड़ी मात्रा में जमा होना और औपनिवेशिक साधनों में लगातार ह्रास का होना।

वितरण सम्बन्धी खतरा के अलावे, वर्तमान पूँजीवाद उत्पादन में बर्बादी और धोखा की परम्परा को कायम रखता है। इससे भी बुरी बात तो यह है, कि यह उपद्रवी तत्वों को और महत्व पूर्ण बनाता है। सिद्धान्त रूप से हम लोग औद्योगिक संकट और व्यापार-चक्र से अच्छी तरह परिचित हैं। ये उतने पुराने हैं, जितना पूँजीवाद स्वयम्। हम लोगों ने यह पता लगाया है, कि किस प्रकार बाह्य गत्यात्मक शक्ति के स्थानीय अवरोधने उसे सामान्य संकट की दशा में डाल दिया। परन्तु इस अवस्था में भी क्रमिक ह्रास का अभाव दीखता है। परन्तु सामान्य गड़बड़ी और चढ़ाव एवं उतार जीवन स्थायी पदार्थों के व्यवसाय में नये लाभ नहीं होते। पूंजीवादी उत्पादनके तरीक व्यापक मात्रा में, दुर्बल जीवन के नये व्यवसाय में, बड़े मुनाफे के साथ व्यवहृत होते हैं। १९३९ के युद्ध के पहले की शताब्दीके व्यापार, फिल्म, रेडियो अलकोहल और अल्प मूल्य के फैशन के सामान के व्यापार थे। यह कोई सामान्य बात नहीं है। इन व्यवसायों का अभी भी बहुत विस्तार हो सकता है। हवाई यात्रा और टेलिवीजन द्वारा प्रात मनोरंजन अभी नयी सूची में है एवं अनेक भोज्य पदार्थ और पोषक तत्वों के विकास की सम्भावना है, फिर भी पूँजीवाद जिस स्थायी मान को पूरा करना चाहता है और व्यापक मात्रा में उत्पन्न करना चाहता है, वह है निर्मित भवनोंके पहले की मांग। सम्भवतः यह पूँजीवाद को सब से अन्तिम और महत्वपूर्ण देन होगी, पर यह सम्पूर्ण विश्व के लिए नहीं बल्कि केवल कृपापात्र जनता के लिए ही होगी। पूँजीवाद वहां जाता है जहाँ वह लाभ देखता है। इस उत्पादक मनोभाव को सज्जा उपभोग के महत्व को और अधिक बढ़ाना चाहिए। यह वृत्ति केवल उन वस्तुओं के सम्बन्ध में नहीं होनी चाहिए जो अधिक आय देने वाले वर्ग में

आती हैं, बल्कि व्यापक मात्रा में विभिन्न रूपों में उत्पादित कम मूल्य वाली वस्तु के सम्बन्ध में भी होनी चाहिए। दुर्बल उत्पादन के इस विशेष गोत्र माल के अतिरिक्त लाभ की अन्ध मनोवृत्ति से सम्पूर्ण अर्थनीति के नियमन का संकट तो, ज्यों का त्यों है। यह मनोवृत्ति, हमारी सहायता के विस्तार-क्षेत्र से भी दूर, कुछ मांगों की पूर्ति को विस्तारित कर देती है। जैसे, विस्तार की प्रबल इच्छा थी, उसी प्रकार, संकोच की भी प्रबल इच्छा है। भारी कल्पना युक्त संभावनाओं की सहायता पाकर, बाजार की जागरूकता भयंकर चढ़ाव और उतार उत्पन्न करती है।

आज के पूंजीवाद की उत्पादक शक्ति के व्यवहार का भयंकर पतन युद्ध सम्बन्धी लालच को अपरिहार्य बना देता है। जब उत्पादन के मालकी और यातायात की मांग, पूर्ति की व्यवस्था से अत्यन्त नीचे उतर आती है, तब युद्ध की ओर बढ़ने का लालच उत्पन्न होता है। यदि इस्पात, इंजिन और बिजली के सामान तथा ऐसे ही अन्य पदार्थ जब नागरिकों के व्यवहार के लिए अधिक नहीं खरीदे जा सकते हैं, तब जीप, टैंक, बम आदि के रूपों में उनका व्यय भयंकरता से बढ़ने लगता है। कुछ समय के लिए, लाखों बेकारों की बेकारी से उत्पन्न असुरक्षा की भावना समाप्त हो जाती है, और परास्त पूँजीवाद के मूल्य पर प्रतिहत जनता के राष्ट्र में विजयी राष्ट्र अधिक निर्यात की आशा करता है। इसके साथ ही युद्ध काल में किया गया नियन्त्रित उपभोग युद्धोत्तर नागरिक-मांग को उज्जीवित करता है, क्योंकि इससे साम्राज्य की जनता को अपने युद्धोद्योग को पूरी विकासावस्था पर लाने के लिए श्रम करने का उत्साह मिलता है। यदि किसी प्रमुख पूँजीवाद में उत्पादकों के पूँजी रूप मालोंका सूचनांक बहुत नीचे उतर रहा हो, जैसा कि, अनुभव से विदित होता है, कि इधर के पूँजीवाद क्रमशः इसके अधिक शिकार अवश्य होंगे; और यदि किसी स्थान पर यह सूचनांक इतना ऊंचा उठ रहा हो, कि केवल युद्ध या शस्त्रीकरण द्वारा ही ऐसा संभव होता; तो ऐसी अवस्था

में शासकों की बुद्धिमानी केवल मात्र युद्ध को ही इसका उपाय बताती है तथा इसके लिए उसकी तैयारी करती है। विश्व अर्थनीति में इधर के पूँजीवादी उत्पादनसे सबसे बड़ा खतरा इसके सामान्य और विशेष गोलमाल में और इसके द्वारा युद्ध प्रारंभ कर बचने की कला में है।

यह आश्चर्यजनक है, कि इधर का पूंजीवाद अपने लाभ की भी भारी भूख और नवीन पूंजी लगाने के क्षेत्र के तुलनात्क अभाव के साथ, अभी भी निश्चित लाभ प्राप्ति की दर को कैसे कायम किए हुए है? यदि पूंजी अपने लगाए जाने वाले संभव क्षेत्रों में न लगाई जाय और लाभ को न बढ़ावे अथवा मूल्य को कम कर के उत्पादन को न विस्तृत करे तो, क्या इस रीति से, लाभ की दर इतना नीचे नहीं उतर आयगी कि वह ब्याज की दर के शून्य विन्दु पर या उसके आसपास पहुंच जाय? व्यापार में एकाधिकार, इस स्वाभाविक विकास के विरोध में काम करता है, एकाधिकार ऐसा तो कि वह केन्द्रित उत्पादन का परिणाम है और जो एक राष्ट्र के द्वारा दूसरे राष्ट्र पर राजनीतिक आधिपत्य के बल पर आधारित है। उत्पादन में एकाधिकार इसलिए होता है, कि उत्पादकों के माल के व्यवसायोंमें प्रतिद्वन्द्वी और खतरा युक्त साहसिक उद्योगके लिए भारी पूंजी की आवश्यकता होती है और यह इसलिए भी होता है, कि सरकार इसमें सहायता करती है तथा उस व्यवसाय में पूंजीपतियों का राष्ट्रिय और अन्तरराष्ट्रिय आधार पर पारस्परिक समझौता रहता है। विदेशी व्यापार में एकाधिकार और प्रजा की पूंजी का व्यवसाय में लगना केवल इस रूप में हो सकते हैं, कि वे स्वतंत्रता पूर्वक काम करें या वे करेन्सी, टेरिफ; खरीद, अथवा ऐसे दूसरे साधन अख्तियार करें, जिसमें असुविधा उत्पन्न करने वाले दूसरे प्रतिद्वन्द्वियों को साम्राज्य की सरकार शीघ्र रोक सके। शाही आदेश या भारी यन्त्रीकरण के परिणम स्वरूप जो एकाधिकार काम में लाया जाता है वह प्रतिद्वन्द्वी पूंजी को रोक देता है, उत्पादन में कमी कर देता है और मूल्य को बढ़ा देता है। उसका उद्देश्य होता है

अधिकतम लाभ प्राप्त करना। यदि यह न हो तो, उत्पादन बढ़ता जायगा, विशेष कर प्रतिहत जनता में। यह वृद्धि ब्याज की नाममात्र की दर के समकक्ष ही रहेगी। यथार्थ में, बड़े पूंजीवादों में ब्याज की उत्पादक क्रियाशीलता समाप्त हो चुकी है। परन्तु यह अपना वितरण कार्य करता ही जा रहा है। इससे धनी और धनिक बनते है, तो कर्जखोरों का वर्ग अभी तक कायम ही है। परन्तु विकास वाली अर्थनीति में इसका उत्पादन कार्य प्रतिबन्धित है। यहां नवीन और पुरातन मांगों के सम्बन्ध का साहसपूर्ण उद्योग बराबर सहायता पाते रहते हैं और सूद केवल नियमन करते हैं। खूब पूंजीवादी अर्थनीति में ब्याज अधिक बढ़ नहीं सकता है, यह तो मृतप्रायः और उत्पादन में बाधक सा होता है। एकाधिकार कृत्रिम उपायों से इसे कायम जो रख रहा है, उससे औपनिवेशिक साधनों के विस्तार को विशेष रूप से रोकता है और इधर के पूंजीवाद को अपने वितरणके खतरे से बचाता है। परन्तु कृत्रिम रूप से ब्याज को इस तरह कायम रखना निश्चित रूप से बैठी हुई पूंजी और चालू पूंजी में संघर्ष उत्पन्न कर देगा। इधर की अर्थनीतियों में ब्याज और लाभ को, उत्पादक तत्वके रूप में रखा जाना, स्वाभाविक विकास में भारी हस्तक्षेप जैसा है। यह उन सभी खतरों का कारण और उत्पादक बनेगा, जिनका शिकार आजकी विश्व अर्थनीति हो रही है।

इधर के पूंजीवाद के व्यक्तिगत स्वामीत्व के खतरों को औपनिवेशिक अर्थनीतियों के क्षेत्र में इस प्रकार गिनाया जा सकता है;—भूखमरी की बात, विदेशी उत्तम मालों के उपभोग में कमी, और उत्पादक साधनों के जबर्दस्ती ह्रास की बात; परन्तु विकसित अर्थनीतियों के क्षेत्र में, आवश्यक वस्तुओं के उपभोग में कमी, विलासिता के उपादानों के उपभोग में वृद्धिकी बात, अनुत्पादक बचत की बात, युद्ध-योग्य और गोलमाल विधायक वस्तुओं के उत्पादन की बात; और विस्तारहीन अर्थनीति में, स्वार्थ को एकाधिकार के सिद्धान्तपर जारी रखने की बात। इनमें से कुछ बातें, संभव हैं, एक दूसरे में

आ गई हों, विशेष करके प्रतिहत जनता के उत्पादक साधन। पश्चिमी-यूरप इन में से किसी भी खतरे को पार करने में असमर्थ दीख रहा है। इसका परिणाम यह है, कि इसके वर्ग अब वर्गों में परिणत हो रहे हैं, और इस की अर्थनीतियों का नियमन हो रहा है। रूस ने, व्यक्तिगत सम्पत्ति को नष्ट कर इधर के पूंजीवाद के आन्तरिक घेरे में उत्पन्न होनेवाले खतरों को हटा दिया है; परन्तु आत्मनिर्भर आत्मनिष्ठ अर्थनीतिवाला देश होने के कारण मानवमात्र के दो तिहाई वाले बाहरी क्षेत्र से एकदम उदासीन सा है। इसलोगों का यह काम है, कि आजके पूंजीवादियों का अग्रणी संयुक्त राष्ट्र अमरीका और प्रतिहत अर्थनीतियों का दर्पण एवं नेता भारत इन खतरों का सामना कैसे करते हैं?

आजके पूंजीवादियों का नेता क्या प्रतिहत जनता के उत्पादक साधनों को पुनर्जीवन प्राप्त कराने में सहायता पहुँचा सकता है? यह अपने पश्चिमी यूरप या जापान के पूंजीवाद से भिन्न अवस्था में पड़ा हुआ है। जबकि इन सबों ने प्रतिहत अर्थनीतियों में व्यापक स्वार्थ पाया है, जिससे कि वे अपने उत्पादन मूल्य पर ही अपने यन्त्रों को बेच सकते हैं और अपने यन्त्रों के मूल्य पर अपने औजारों को, संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के पूंजीवाद के सामने कोई ऐसा धोखा देनेवाला भूतकाल नहीं है। पर यह बात अमरीकी गोलार्द्ध के कुछ हिस्सों के लिए लागू नहीं है। एशिया और अफ्रीका की प्रतिहत जनता के हाथ बेचे गये उत्पादित माल के व्यापार को कोई खास महत्व इसकी अपनी अर्थनीति में नहीं है। यह उनके हाथ मशीन और मशीन के औजारों के बेचने में स्वतन्त्र है। इस प्रकार यह प्रतिहत अर्थनीतियों के साथ व्यापार करने और पूंजी लगाने में इस प्रकार बन्धनहीन है कि अपने श्रमिकों के श्रम घंटों के प्रतिफल को खूब बढ़ा सकता है। इससे पूंजीवाद की सम्पत्ति में एक नवीन तत्व का प्रवेश होता है। इस प्रकार शाही गत्यात्मकता को फिर से प्राप्त करने की सुविधा का द्वार खुल जाता है,

भले ही वह अल्पकाल के लिए ही क्यों न हो। इस शाही गत्यात्मकता ने अपने विस्तार के साथ संसार को फँसाने का कार्य समाप्त कर दिया था और औपनिवेशिक गरीबी तथा बाधा के कारण इसने अपना संकोच शुरू कर दिया है। प्रतिहत अर्थनीति की आवश्यकता के अनुसार अपनी बिक्री और पूंजी को लगाने में संयुक्तराष्ट्र अमेरिका की अर्थनीति उन की उत्पादक शक्ति को बढ़ा सकती है और बहुत बड़ी मात्रा में वस्तुओं के उत्पादन में उनको सहाय ता भी पहुँचा सकती है; पर यह जापानी पूंजीवाद और पश्चिमी यूरप के पूंजीवादों के द्वारा बलपूर्वक उत्पादित प्रतिहत अर्थनीतियों की आवश्यकता के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप में इस बात की सम्भावना है कि पूँजीवाद, औपनिवेशिक अर्थनीतियों को फिरसे साधन सम्पन्न कर, अपना विस्तार कर सके, क्योंकि इसी क्षेत्र में विस्तार की अब भी सम्भावना है।

इस सैद्धान्तिक संभावना के विरुद्ध, संयुक्तराष्ट्र अमरीका की अर्थनीति का अद्भुत् आत्मनिर्भर चरित्र को उपस्थित करना चाहिए, जो कि इस अर्थनीति को पश्चिमी यूरप और जापान की अर्थनीतियों से भिन्न करता है। संयुक्तराष्ट्र अमरीका को देना तो बहुत है, पर वह दूसरों से लेगा बहुत थोड़ा ही। विश्वके उत्पादक सामान, निर्मित माल, भोजन और कच्चे मालों का प्रमुख उत्पादक अमरीका ही है। दूसरे पूंजीपति राष्ट्र भोज्यान्नों के बहुत बड़े उपभोक्ता हैं और प्रतिहत अर्थनीतियों के राष्ट्र से शोषित कच्चे मालों के भाण्डागारी भी हैं। इसप्रकार वे स्वयं देहात और शहर के भारी सम्बन्ध को अपने और जनसंख्या की दो तिहाई के बीच कायम रखते हैं। संयुक्तराष्ट्र अमरीकाने इस सम्बन्ध को बड़े पैमाने पर अपनी सीमाके भीतर ही रखा है। आज उसका महान् व्यावसायिक उत्पादन उसकी इसी प्रकार महान् कृषि उपज और खान उपज के अनुरूप है संयुक्तराष्ट्र अमरीका अपने यन्त्रों के औजारों को लोकोमोटिव्स या छोटे डायनोमो के निर्माण के लिए बेचना

चाह सकता है; यह फाउन्टेनपेन और रेडियो में अपने निर्यात को बढ़ाना भी चाह रहा हो, पर इस चाहने में प्रतिहत क्षेत्र में खर्चीली अर्थनीति की आवश्यकता है। लेकिन इस बिक्री के बदले वह चाहेगा क्या? भोज्यान्न, फल मांस, रूई, लोहा, पेट्रौल, व्यापक व्यवहार की वस्तु का उत्पादन, या विश्व व्यापार में सबसे अधिक परिमाणवाली बिक्री योग्य वस्तुओं में कोई विशेष प्रकार की वस्तु वह नहीं चाहेगा। अमरीका दे तो सकता है पर यह ले नहीं सकता है, यह भावना इधरके पूंजीवादी राष्ट्रों के नेता को बल देता है कि वह विश्वव्यापार को दो तरफ विस्तार की दिशा में छोड़ दे। यदि दूसरे पूंजीवादी राष्ट्र, इस भय से, कि कहीं इससे उनकी ही हानि न होजाय, अपनी विश्व अर्थनीति को विस्तारित करने में असमर्थ हों, तो वर्तमान पूंजीपतियों का अग्रणी भी पायगा, कि उसकी आशाएँ निराधार हैं, भले ही उसके भय के लिए कोई कारण नहीं है। फिर भी, संयुक्तराष्ट्र अमरीका की अर्थनीति के सम्बन्धमें, जैसा कि निकट के वर्तमान में हम पाते हैं, यह बढ़ा चढ़ा कर कहना संभव है, कि इसमें ग्राहकता नहीं है। प्रतिहत क्षेत्रों में साधनों के विस्तार के कारण, सिंकियांग के फर, चीन के रेशम, भारतके जड़ी के काम संयुक्तराष्ट्र अमरीका की जनता के व्यापक उपभोग में ऐसे आ सकते हैं, जैसे ये वृहत्-व्यापार के सामान हों।

यह भी संभव है, कि प्रतिहत जनता, अपनी वैज्ञानिक कुशलता और सामूहिक क्रिया द्वारा, विश्व व्यापार में जीवन संचार के लिए अभी भी नये सामान और कच्चेमाल का उत्पादन करे, परन्तु यह उनके अपने श्रम से हो सकता है, बाहरी कोई राष्ट्र यह प्रेरणा उनमें उत्पन्न नहीं कर सकता है। इधरके पूंजीवादों का अग्रणी, इसके साथही, इसके लिए अयोग्य होगा कि वह प्रतिहत अर्थनीतियों को फिर से साधन सम्पन्न करने के लिए अपनी योग्यता को पूरे तौर पर लगा दे एवं प्रौढ़ताप्राप्त अर्थनीतिका नेतृत्व संयुक्तराष्ट्र अमरीकाके हाथ लगा है, और ऐसी अवस्थामें वह वर्तमान व्यवस्था

में अधिक हस्तक्षेप करने में असमर्थ रहेगा। पश्चिमी यूरप के पूंजीवाद ने जापानी पूँजीवाद द्वारा अच्छी तरह सहायता और प्रतिद्वन्दिता प्राप्त कर प्रतिहत-विश्व के बड़े हिस्से को एक राजनीतिक शासन के अधीन अच्छी तरह गूंथ दिया है, जो कि शहर-ग्राम जीवन के सम्बन्ध को कार्यान्वित करने का निश्चित विश्वास देता है। संयुक्तराष्ट्र अमरीका इन विभिन्न पूंजी वादों, को स्थिरता रखने वाले अनेक एजेन्टों के रूप में. मंजूर करले, और वह भी तब जब कि वह परस्पर या किसी अन्य से युद्ध रत न हो तो, इसे उनके साथ मिल कर काम करना चाहिए। संभव है, कि शत्रुता की भावना से युक्त प्रतिस्पर्द्धा की धारा भीरत ही भीतर प्रवाहित हो, कभी कभी भयंकर संघर्ष भी करा सकती है, और युद्ध सदा उपेक्ष्य नहीं भी हो सकता है, पर सामान्य उपाय के रूप में, संयुक्त राष्ट्र अमरीका को चाहिए, कि वह अनिश्चित और जिसकी कल्पना पहले से नहीं की जाती हो ऐसे संसार में, इन पूंजीवादोंको अपने स्थायीत्व के लिए एजेन्ट की तरह अवश्य स्वीकार कर ले प्रतिहत राष्ट्र स्थिर राष्ट्र के निर्माण के सम्बन्ध की धारणा एकदम भिन्न रखें, यह संभव है; पर वर्त्तमान पूंजीवाद के नेता को भविष्य में उत्पन्न होनेवाली स्थिरता के प्रयोग के लिए असीम साहस की आवश्यकता होगी। निष्कर्ष के रूप में, संयुक्तराष्ट्र अमरीका को शाही व्यापार-नीति के साथ समझौता करना होगा और प्रतिहत अर्थनीति के राष्ट्रों में उत्पादक-माल को बेचना सीमित करना होगा। इसके साथ ही, संयुक्त राष्ट्र अमरीका, समाजवादी पुनर्निर्माण की अपेक्षा, प्रतिहत जनता के बीच के पूंजीवादी दलों के साथ बिक्री-सम्बन्ध और पूंजी लगाने को अधिक पसन्द करेगा। यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर हम विस्तारपूर्वक विचार करेंगे, पर यह तो एक दम संदेहास्पद है कि पूंजीवादी वर्गों के द्वारा प्रतिहत अर्थनीतियों को पुनः साधन सम्पन्न किया जायगा।

संयुक्तराष्ट्र अमरीका विवश होगा, कि वह जहां तक हो सके, प्रतिहत

अर्थनीतियों वाले राष्ट्रों के साथ होने वाले अपने व्यवहार को विस्तृत करे इसकी लगातार मूल्य ह्रास की अवस्था इसे ऐसा करने को विवश करेगी। यह उस आधार पर कायम नहीं रह सकता है, जिसने इसकी उत्पादक-वस्तु के सूचनांक को १९२७ में १०० से नीचे ८७ और १९३८ में ५४ पर उतरने को विवश किया था। इनके बीचके कुछ बर्षतो एकदम खराब थे। इसके विपरीत ब्रिटेन का सूचनांक १९३७ में १३३ तक और १९३८ में १९९ तक पहुँच गया था। केवल शस्त्रोद्योग से अमरीका के पतन और ब्रिटेन के उत्थान को पूर्ण रूपसे समझा नहीं जा सकता है। इसमें महत्वपूर्ण हाथ उस समान-परिस्थिति का था, जिसने अमरीका में औद्योगिक लाभ की दर को १९२९ में १२·८ प्रतिशत से १९३२ में २ प्रतिशत, १९३७ में ६·७ प्रतिशत और १९३८ में ३·८ प्रतिशत पर नीचे उतार दिया। परन्तु यही दर ब्रिटेन में उन्हीं वर्षों में १०·५, ८·५, ११·२ और १२ प्रतिशत के हिसाव से लगभग अपने स्थिर रूप में कायम रही। यह बतामहत्व पूर्ण है, कि अमेरिका की उत्पादक कम्पनियों में अधिक संख्यक ने १९३१-और ३२ में लाभ-दर को नकारात्मक में अंकित किया है। संयुक्तराष्ट्र अमरीका यह समझने में भूल नहीं कर सकता, कि ब्रिटेन अभी भी इस योग्य है कि, वाह्य गत्यात्मकता के व्यवहार में ह्रासको धीमा कर सके, यद्यपि उसकी गत्यात्मकता धीमी पड़ती जा रही है। पर उसमें क्षमता है, कि वह बदले की व्यवस्था और सीमित उत्तम वस्तु के उपभोग को दे सके अमरीकी अर्थनीति ने अपनी आन्तरिक गत्यात्मकता की लगभग समाप्त कर लिया है और इसने उसे भी नष्ट कर लिया है, जो उसे अमरीकी गोलार्द्ध में मिलती। परिणाम स्वरूप, यदि इसे अपने को वचाना है, तो यह किसी वाह्य गत्यात्मक की खोज करे, जो व्यवहार काल में अपना विस्तार करसके। इधर की घटने वाली घटनाएं एक प्रकार का सबल उत्साह उत्पन्न कर रही है जो इस कार्यके लिए प्रेरणा दे रहा है।

प्रतिहत जनताके उत्पादक-साधन के सम्बन्ध में, संयुक्तराष्ट्र अमरीका की स्थितियों को हम इस प्रकार एकत्र कर समझ सकते हैं; बाहरी गत्यात्मकता को विकसित करने की नितान्त आवश्यकता, एक ओर उत्पादक मालों को देने की चाह, दूसरी ओर, स्थिरता के विधायक एजेन्ट के रूपमें उपस्थित वर्तमान पूंजीवादों के साथ मिलना और दूसरी अर्थनीतियों के राष्ट्र से अधिक मात्रा में माल प्राप्त करने में तुलनात्मक अयोग्यता। इससे, जो स्वीकारात्मक प्रतिफल मिल सकते हैं वे केवल ये हैं, कि वर्तमान विश्व के ढेर का कुछ स्थान-परिवर्तन कर सकता है और चीन की प्रतिहत अर्थनीति में कुछ विस्तार; क्योंकि चीन राजनीतिक दृष्टि से अब गुलाम नहीं है। संयुक्तराष्ट्र की अर्थनीति, संभव है, कि अपने दवाव से अपने पूंजीवादी-साम्राज्यवादी राष्ट्रों को प्रेरित करे कि वे औपनिवेशिक-साधनों के अति सीमित विकास को या तो सुविधा दें या आगे बढ़ने दें। शेष के लिए, अमरिका व्यापक रूपसे वाधक होकर काम करेगा यदि अमरीका पश्चिमी यूरप और जापानके पूंजीवादों के सामने, पूंजीवादी पद्धतिसे अछूत औपनिवेशिक नागरिकों के स्थिरता प्राप्त कराने में रोक उत्पन्न करेगा, तो यह अपने अतीत से शीघ्र नाता तोड़ने की सुविधा पाने की दिशा में भी प्रतिहत जनता को वाधा पहुँचायगा। इस प्रकार यह अपनी उत्पादक-क्षमता के व्यवहार के क्रमिक ह्रास को रोकने में स्वयं असमर्थ होता जायगा अथवा प्रतिहत जनता के उत्पादक साधनों में वाधा के बिना विकास होता रहेगा। यह विश्व-अर्थनीति के भयंकर खतरे को ठीक से हटा भी नहीं सकेगा। विश्वव्यापी जातीयता के ढांचे में ढलने वाले पूंजीवाद के ह्रास को कठिन बनाने में यह कितना विलम्ब कराने में समर्थ हो सकेगा य पूर्ण मुक्तविश्व-अर्थनीति का आगमन यह दूसरा ही प्रश्न है। उत्पादन और उसके झुकाव का विश्व-सूचनांक यह बतावेगा, कि हमारी इस शताब्दी के बीतने के पहले, दोनों में से कोई एक अवश्य अच्छी तरह कार्य में परिणत हो। पूंजीवाद या तो विश्व

भर में जातीयता के रूप में स्थिर हो जाय या मुक्त अर्थनीति के आगमन के साथ ही विदा हो जाय और संयुक्तराष्ट्र, इस बीच, या तो इसे रोकेगा या साधारणतः चुप्पी साध लेगा। प्रतिहत-साधनों के आधुनिकतम विकास के सम्बन्ध में अमरीका की अर्थनीति विभाजित-स्वार्थ की या विलम्ब करने की प्रवृत्ति दिखा रही है। इस प्रकार औपनिवेशिक जनता के नेतृत्व से अमरीका ने अपने आप को लगभग पूर्ण रूप से वंचित कर लिया है। क्या और क्षुधार्त होती हुई जनता इस नाशोन्मुख पूंजीवाद को आत्मसमर्पण करेगी या मानवता के स्तर पर उठने का प्रयत्न करेगी?

अमरीका का कौशल सम्बन्धी खतरा इस बात से आंका जा सकता है, कि जब सम्पूर्ण उत्पादन का सूचनांक १९२९ में १०० से १९३८ में ७३ पर उतर आया, प्रति व्यक्ति-घन्टा का अतिरिक्त उत्पादन जो आरम्भ में १०० था, पिछले वर्षों में ११६ हो गया। वैज्ञानिक और व्यवस्था सम्बन्धी विकास से प्रति श्रम-घन्टा का प्रतिफल लगातार बढ़ ही रहा है, पर इससे परिचित मालों के उत्पादन में इसके अनुरूप और चिन्ताजनक वृद्धि नहीं हो सकती है। इस लिए यातो कार्यकाल कम करा दिया जाय या मनुष्यों को काम से हटा दिया जाय। इसमें दूसरा विकल्प ही काम में लाया जा रहा है। भारी यन्त्रीकरण और व्यापक मात्रा में उत्पादित माल की परिचित-पद्धति में होनेवाले निरन्तर विकास की चोट का पता तब चलेगा जब कि वैज्ञानिक सबल उत्साह इसके साथ ही व्यापक रूप से नवीन मांगों का सृजन करे या उनको सन्तुष्ट करने के साधनों का ही। मांगों की प्रत्येक लगातार वृद्धि क्या उचित है; इस प्रश्न को छोड़ देने पर भी, अमरीका का अनुभव बताता है, कि यह संभव नहीं है। आज की सबसे बड़ी पद्धति है हवाई यात्रा जिस के बारे में बहुत कुछ जाना जा चुका है। अमरीका के एक वक्तव्य के अनुसार, हवाई जहाज का उद्योग और इसके यात्री, आनेवाले वर्षों में,

सम्पूर्ण जनसंख्या के केवल ६ और १० प्रतिशत के बीच के लोगों को ही काम दे सकेंगे। यह अतिशयोक्ति मालूम पड़ती है। यदि यह ठीक भी हो तो यह बहुत दूर तक रेल और जहाज के यातायात को धक्का पहुँचा कर ही होगा। इसका नतीजा निकला, कि यह एकदम नया काम नहीं हुआ। यह ठीक है, कि परिचित दिशाओं में ही विज्ञान विकास कर रहा है, फिर भी इसका कोई स्पष्ट सबूत नहीं मिल रहा है, कि अमरीका की अर्थनीति नवीन क्षेत्रों की उद्भावना द्वारा उसकी बराबरी कर सकेगी। यह एक उद्योगसे दूसरे उद्योग के कौशल सम्बन्धी विकास को बरबश ह्रास की ओर ले जाने का कारण बनेगा। यह विज्ञान का स्थिर और सन्तुलित प्रयोग भी नहीं होगा और इस प्रकार स्थिरता तो आयगी ही नहीं।

अमरीका का विज्ञान लचक युक्त और लघु-इकाई की विधि की समस्या का समाधान नहीं है जैसे, युद्ध ने इसे जीप गाड़ी दी। यह एक प्रकार से सभी कामों के योग्य बना है। यह खेत जोत सकता है, दुग्ध-उत्पादन के लिए शक्ति दे सकता है और इसके अलावे यात्रा साधन है ही। अमरीका के कृषि विभाग ने हिसाब लगाया है, कि जीप, प्रति एकड़ अधगैलन की दरसे ही भारी ट्रैक्टर का काम कर सकता है जोकि ३०३ गैलन प्रति एकड़ खर्च करता है। इससे बढ़कर नवीन कौशल का कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिल सकता है, जिसके लिए हम प्रयत्न करें। इससे, कम खर्च में और अल्प पूंजी लगाने पर ही सारे काम बन जाते है।

इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र अमरीका के निर्यात-व्यापारियों के बारे में कहा जाता है. कि वे प्रतिहत अर्थनीतियों में व्यवहार के लिए छोटे-छोटे डायनोमा पूरा करने में लगे हैं। ये डायनोमा पहले के ४० डौलर की अपेक्षा १५ डौलर के खर्च में ही अश्वशक्ति देंगे। छोटी हवाई की विधियों के ये प्रयोग वस्तुतः इस अर्थनीतिकी की शाखायें हैं, जो मुख्यतः व्यापक और भारी यन्त्री करण से युक्त रहने की प्रतीक्षा करती है। परम्परागत विधि को संयुक्त राष्ट्र अमरीका

अब अधिक तोड़ नहीं सकता है, जैसा कि पश्चिमी यूरप के राष्ट्र कर सकते हैं। लघु-वाट (बिजली का नाप) इकाई के व्यवहार पर किया गया प्रयोग और होनेवाला प्रयोग, सम्भव है, प्रतिहत अर्थनीतियों को प्रेरित करे, कि वे अपने औद्योगिक उद्धार को लघु-इकाई की विधियों के आधार पर आधारित करें।

संयुक्त-राष्ट्र अमरीका के विज्ञान को अभी भी जीवन के आराम में मदद पहुँचानी है। इसे गर्मी और ठंढक के लिए गैस देना है। इस विज्ञान को प्लास्टिक, कपड़ा के योग्य तन्तु, नयी दवा,-शल्य चिकित्सा, आवश्यकता पड़ने पर युद्ध के लिए नये वस्त्रादि देने हैं।

विज्ञान को अपने अधिक सख्यक नागरिकों के लिए जीवन के आराम के सामान अधिक मात्रा में देना है। लेकिन लघु-इकाई की विधि के पीछे परेशान होने या इसे धीरे-धीरे उन्नत करने के अलावे अमरीका का विज्ञान कोई दूसरा औद्योगिक आधार नहीं दे सकेगा, जो अधिक सबल-उत्पादन, वितरण और रक्षा को धारण कर सके।

स्वर्गीय बादशाह पञ्चम जार्ज के परिधान सीनेवाले

जौर्ज ३ के शासन काल में १७७६ में स्थापित

हर्मन एण्ड को० लि०

हर तरह की सिलाई की सब से बड़ी दूकान।

कोट, पैन्ट वगैरह सिलाकर देखें।

गवर्नमेन्ट हाउस के सामने

११ गवर्नमेन्ट प्लेस

कलकत्ता

फोन नं० सिटी १४८८ तथा ४८३३

कल्पना

साहित्यिक तथा सांस्कृतिक मासिक पत्रिका

(मद्रास, राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार एवं हैदराबाद की सरकारों द्वारा मान्य एवं स्वीकृत)

८२१, बेगमबाजार, हैदराबाद दक्षिण

वार्षिक १२) शाखा—२०, इमाम स्ट्रीट, बम्बई १ एक प्रति १)

सोशलिस्ट पार्टी का प्रमुख साप्ताहिक पत्र—

संघर्ष

हर सप्ताह संघर्ष में पढ़िये सवाल जवाब, राजनीतिक खबरें, राजनीतिक डायरी, अन्तर्राष्ट्रिय चर्चा, विभिन्न प्रान्तों की चिट्ठियां

संघर्ष का चन्दा—८) सलाना।

५ शाहनजफ रोड, लखनऊ

'नया समाज'

हिन्दी का स्वतन्त्र मासिक—५ वें वर्ष में प्रवेश कर गया है।

यदि आप अभी तक ग्राहक न बने हों, तो आज ही

सिर्फ ८) रु० भेज कर ग्राहक बन जायँ।

नमूने के लिए लिखिए—

व्यवस्थापक 'नया समाज', २३ नेताजी सुभाष रोड, कलकत्ता